मेघदूत : एक पुरानी कहानी

# मेघदूत : एक पुरानी कहानी

हजारीप्रसाद द्विवेदी

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली   पटना

## निवेदन

आज से तीन वर्ष पूर्व मेरी आँखें बहुत खराब हो गयीं। तीन-चार महीने तक असह्य पीडा थी और पढना-लिखना तो दूर दिन मे आँख खोलकर ताकना भी मना था। जब पीडा की मात्रा कुछ कम हुई तो विश्राम के लिए शान्ति-निकेतन के अपने पुराने आवास मे एक महीने के लिए चला गया। दिनभर आँख बन्द किये रहना था, और निश्चेष्ट पडा रहना था, पर मन मे लिख-पढ न सकने के कारण एक प्रकार का विचित्र उद्वेग बना रहता था। एक दिन मेरे मित्र और अग्रज-समान पूज्य प. निताई विनोद गोस्वामी ने कहा कि आप भी बैठे-बैठे 'मेघदूत' की एक व्याख्या क्यो न लिख दें! गोस्वामीजी बहुत ही उच्चकोटि के विद्वान् और सहृदय व्यक्ति हैं। उनके इस इंगित ने मुझे प्रेरणा दी। मैने उनसे कहा कि 'गीता' और 'मेघदूत' हमारे देश के दो विचित्र ग्रन्थ हैं। धर्म और अध्यात्म का उपदेश देनेवाला हरएक विद्वान् और आचार्य गीता की एक व्याख्या अवश्य लिख जाता है, और साहित्य-रसिक कवि और सहृदयजन कोई-न-कोई टीका, व्याख्या कविता या आलोचना 'मेघदूत' के सम्बन्ध मे अवश्य लिख जाते हैं। ये दोनो ग्रन्थ विश्वनाथजी के मन्दिर के घण्टे के समान हैं। हर तीर्थ-यात्री एक बार इनको अवश्य बजा जाता है। गोस्वामीजी का सुझाव बिल्कुल ठीक था। मुझे 'मेघदूत' पर कुछ लिखना चाहिए। पाँचो सवारो मे नाम लिखाने का इससे सुगम साधन और कोई नही है।

इस प्रकार 'मेघदूत' की व्याख्या लिखने की प्रेरणा मिली। मेरी बुरी आदत यह पड गयी है कि जब लिखने बैठता हूँ तो दो-चार पुस्तकें अवश्य खोल लेता हूँ। कुछ उद्धरण देने के लिए और कुछ अपनी बात की पुष्टि के लिए प्रमाण सग्रह करने के लिए, परन्तु जब आँखें लाचार हों लिखने-पढने पर सख्त पाबन्दी हो, और पुस्तक माँगने पर मित्रो की ओर से भी डाँट पडने की ही आशका हो तब उपाय ही क्या है? इसीलिए कोई टीका या व्याख्या लिखना तो सम्भव नही था, जो-कुछ लिखा या लिखाया गया वह 'गप्प' से अधिक की मर्यादा नही रखता। इसीलिए मैंने इसका नाम भी दिया—'मेघदूत : एक पुरानी कहानी'। जो-कुछ लिखा गया वह निस्सन्देह मूल श्लोको के आधार पर ही लिखा गया, परन्तु ऐसी बातें भी उसमे आ गयी हैं, जो लिखे गये अर्थों की पुष्टि के लिए जोड़ दी गयी थीं।

बाद में पाद-टिप्पणी में वे मूल श्लोक भी लिख लिये गये, जिनके आधार पर व्याख्या प्रस्तुत की गयी थी। ये अंश कलकत्ते के 'नया समाज' में कुछ दिनों तक प्रकाशित होते रहे। शान्ति-निकेतन में पूर्वमेघ का अधिकांश लिख लिया गया था, परन्तु ग्रन्थ पूरा नहीं हुआ। मुझे फिर कर्मस्थान पर लौट आना पड़ा और अनेक कामों में उलझ जाना पड़ा। पुस्तक अधूरी ही पड़ी रह गयी। लेकिन इस बीच कई सहृदय विद्वानों ने उसे पूरा कर देने का आग्रह किया। मेरे दो प्रिय छात्र—श्री मदनमोहन पाण्डेय और श्री विश्वनाथप्रसादजी—ने बार-बार आग्रह और तगादा करके और किसी भी समय लिखने को तैयार होकर बाकी अंश भी पूरा करा लिया और इस प्रकार यह कहानी किसी तरह किनारे लगी।

'मेघदूत' अद्‍भुत काव्य है। अब तक इस पर सैकड़ों व्याख्याएँ लिखी जा चुकी हैं। आधुनिक युग में यह और भी लोकप्रिय हुआ। भारतीय भाषाओं में इसके कई समश्लोकी और पद्यात्मक अनुवाद हुए हैं। आधुनिक हिन्दी के अन्यतम प्रवर्तक राजा लक्ष्मणसिंह से लेकर इस युग के नवीन विचारवाले युवक कवियों तक ने इसे अपने ढंग से कहने का प्रयत्न किया है। जो भी इसे पढ़ता है, उसे अपने ढंग से इसमें ताजगी दिखायी पड़ती है। क्या कारण है? सम्भवतः 'मेघदूत' मनुष्य की चिरनवीन विरह-वेदना और मिलनाकांक्षा का सर्वोत्तम काव्य है। शायद ही कोई काव्य हो जो मनुष्य को इतनी गहराई में आन्दोलित और प्रभावित कर सका हो। ऐसे अद्‍भुत काव्य का इतना लोकप्रिय होना आश्चर्य की बात नहीं है।

मेरी यह व्याख्या कैसी हुई है, इस पर विचार करना मेरा काम नहीं है। 'स्वान्तः सुखाय' बहुत बड़ा शब्द है। परन्तु मैंने जिन दो-चार निबन्धों और पुस्तकों की रचना सचमुच 'स्वान्तः सुखाय' की है, उनमें यह भी एक है। यह जैसी भी है, सहृदयों के कर-कमलों में समर्पित है। उन्हींका स्नेह पाकर यह धन्य हो सकती है।

काशी, 20 11.57 हजारीप्रसाद द्विवेदी

मेघदूत एक पुरानी कहानी

# मेघदूत : एक पुरानी कहानी

## 1

कहानी बहुत पुरानी है, किन्तु बार-बार नये सिरे से कही जाती है। अत. एक बार फिर दुहराने में कोई नुकसान नहीं है।

एक यक्ष था, अलकापुरी का निवासी। इस देश और इस काल के निवासियों की दृष्टि से देखा जाय तो वह निहायत गरीब नहीं कहा जा सकता। दूर से ही उसके विशाल महल का तोरण इन्द्रधनुष के समान झलमलाया करता था। मकान की सीमा में ही जो मनोहर वापी उसने बनवायी थी, उसकी सीढ़ियाँ मरकत मणि की शिलाओं से बाँधी गयी थीं और उसके भीतर वैडूर्य मणि के स्निग्ध-चिकने-नालों पर मनोहर स्वर्ण-कमल खिले रहते थे। इस वापी के निकट ही इन्द्रनील मणियों से बना हुआ क्रीड़ा-पर्वत था, जिसके चारों ओर कनक-कदली का बेड़ा लगा था। एक माधवी-मण्डप का क्रीडानिकुंज था, जिसके ठीक मध्य में स्फटिक मणि की चौकी पर काचनी वासयष्टि थी, जिस पर उस यक्ष का शौकीन पालतू मयूर बैठा करता था—शौकीन इसलिए कि यक्षप्रिया की चूड़ियों की झकार से ही नाच लेने में उसे रस मिलता था। गरज कि मकान की शान देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह गरीब था। उसके बाहरी द्वार के शाखा-स्तम्भों पर पद्म और शंख थे, जिसका मतलब कुछ विद्वान् यह बताते हैं कि शंख और पद्म तक की सम्पत्ति उसके पास थी और कुछ विद्वान् इसे उन दिनों के पैसेवालों की महत्त्वाकांक्षा का चिह्न-मात्र मानते हैं। जो भी हो, यक्ष बहुत गरीब नहीं था। कल्पवृक्ष के पास रहनेवालों को धन की क्या कमी

हो सकती है भला !

परन्तु निर्धन चाहे न हो, नौकरीपेशा आदमी वह जरूर था। यह तो नही मालूम कि वह क्या काम करता था; मगर 'मेघदूत' के टीकाकारो ने जो अनुमान भिडाये हैं, उनसे यही पता लगता है कि वह कोई बहुत ऊँचे ओहदे का आदमी नही था। कुछ लोग बताते हैं कि यक्षपति कुबेर का माली था। प्रिया के प्रेम मे वह निरन्तर ऐसा पगा रहता था कि काम-काज पर बिल्कुल ध्यान नही देता था। एक दिन इन्द्र का मतवाला हाथी ऐरावत आकर बगीचा उजाड गया और इन हज़रत को पता भी नही चला ! कुबेर रईस आदमी थे, फूलो के बडे शौकीन। उन्हे यक्ष की—बेचारे का नाम किसी ने नही बताया—इस हरकत पर क्रोध आया और उसे साल-भर के लिए देश-निकाले की सजा दे दी। दूसरे लोग कहते हैं, कुबेर ने प्रातःकाल पूजा के लिए ताजे कमल के फूल लाने के काम पर उसे नियुक्त किया था। पर प्रातःकाल उठ सकने मे कठिनाई थी और यह प्रमादी सेवक बासी फूल दे आया करता था। जो हो, इतना स्पष्ट लगता है कि नौकरी वह मामूली-सी ही करता था। गफलत कर गया और साल-भर के लिए देश-निकाले का दण्ड-भागी बना। पहली कहानी कुछ अधिक ठीक जान पडती है। जरूर ऐरावत ने ही इस बेचारे की दुर्दशा करायी होगी ! 'मेघदूत' मे ऐसा इशारा भी है।

कुबेर चाहते, तो जुर्माना कर सकते थे। पर वह दण्ड बेकार होता, क्योंकि कल्पवृक्ष से वह जो चाहता, वही मांग लेता और जुर्माना चुका देता। जेलखाने वहाँ शायद थे ही नही। उस नगरी में एकमात्र बन्धन प्रिया का बाहु-पाश था। पर कुबेर ने इस दण्ड से कोई विशेष फायदा नहीं देखा। असल में देश-निकाले से बढकर और कोई दण्ड उस देश में हो ही नही सकता था। मगर यक्ष कुबेर का चाहे जितना भी अदना नौकर क्यों न हो, था देवयोनि का जीव। निधियाँ उसके अधिकार मे थीं, सिद्धियाँ उसके लिए सब-कुछ करने को प्रस्तुत थो। इसलिए सिर्फ राजादेश से यदि दण्ड दिया जाता, तो यक्ष कुछ-न-कुछ ऐसा अवश्य कर लेता, जिससे वह अलका के बाहर भी आराम से रह सकता था। *हज़ार हो, देवयोनि मे जन्मा था*, सो कुबेर ने उसे सजा नही दी, शाप दिया। देवता ही देवता को मारना जानता है। लोहा ही लोहे को काट सकता है।

प्रेमजन्य प्रमाद इतिहास में और भी हुए हैं। यक्ष ने जो गफलत की, वैसी ही और भी कई बार की गयी है। कहते हैं, खानखाना अब्दुर्रहीम का एक साधारण भृत्य प्रिया-प्रेम में कर्तव्य-बुद्धि से इतना हीन हो गया कि छह महीने तक काम पर ही न गया। गया तो डरता हुआ और जीवन की सबसे कठिन सजा सुनने की आशंका लिये हुए। उसकी प्रिया कविता लिख लेती थी। उसने पुर्जे पर एक बरवै छन्द लिख दिया था। इस पर कवि रहीम ने भृत्य का अपराध क्षमा कर दिया था और पुरस्कार भी दिया था। वे मनुष्य थे, पर कुबेर तो देवता थे। मनुष्य क्षमा कर सकता है, देवता नहीं कर सकता। मनुष्य हृदय से लाचार है, देवता नियम का कठोर प्रवर्तयिता है। मनुष्य नियम से विचलित हो जाता है, पर देवता की कुटिल भृकुटि नियम की निरन्तर रखवाली करती है। मनुष्य इसलिए बड़ा होता है कि वह गलती कर सकता है, देवता इसलिए बड़ा है कि वह नियम का नियन्ता है। सो कुबेर ने उसे शाप दे दिया।

उस बेचारे की महिमा कम हो गयी। उसका देवत्व जाता रहा। कहाँ जाय, क्या करे? शहर अच्छे नहीं लगते, जंगलों में मन नहीं रमता, जीवन में पहली बार प्रिया का दुःसह वियोग सहना पड़ा। उसने रामगिरि के पवित्र आश्रम में अपनी बस्ती बनायी। बड़े-बड़े घनच्छाय वृक्षों से आश्रम लह-लहा रहा था और ठण्डे पानी के वे पवित्र सोते यहाँ काफी संख्या में थे, जिनमें जनकनन्दिनी ने न-जाने कितनी बार स्नान किया था। विरह की बेचैनी काटने के लिए इससे अच्छा स्थान नहीं चुना जा सकता था। राम से बड़ा विरही और कौन हो सकता है? और इतना अपार धैर्य और किसमें मिल सकता है? अपने हाथों से राम और सीता ने जो पेड़ लगाये थे, उनकी शीतल छाया से बढ़कर शामक वस्तु और क्या हो सकती है? यक्ष ने बहुत सोच-समझकर, निहायत अक्लमन्दी से यही स्थान चुना—पवित्र, शीतल और शामक।

> कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
> शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्त्तुः ।
> यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
> स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥ 1 ॥

रामगिरि सरगुजा-रियासत की कोई छोटी-सी पहाड़ी है। एक समतल भूमि पर से यह पहाड़ी उठी है। बहुत ऊँची नहीं है। लेकिन इसके उत्तर की ओर और उत्तर-पूर्व की ओर काफी ऊँची पर्वतमालाएँ हैं। पहाड़ जहाँ थोड़ा समतल होकर नीचे की ओर ढलता है, उस ढलान को संस्कृत में 'सानु' या 'पर्वत-नितम्ब' कहते हैं। रामगिरि के ढलान बड़े मनोरम हैं। बेचारा यक्ष आठ महीने तो किसी प्रकार काट गया, पर अचानक आषाढ़ मास की पहली तिथि को रामगिरि के सानु-देश में लगे हुए एक काले मेघ को देखकर व्याकुल हो उठा। वर्षा का सुहावना काल किसे नहीं व्याकुल कर देता? यक्ष बेचारा तो यों ही विरह का मारा था। जब आसमान मेघों से, पृथ्वी जलधारा से, दिशाएँ विद्युल्लताओं से, वन-कुंज पुष्पों से और नदियाँ नवीन जल-राशि से भरती रहती हैं, तो मनुष्य का लाचार हृदय भी अकारण औत्सुक्य से भरने लगता है—जैसे कुछ अनजाना खो गया हो, कुछ अनचीना हो गया हो। विरही यक्ष ने पर्वत के सानु-देश पर सटे हुए काले मेघ को देखा। कैसा देखा? जैसे कोई काला मतवाला हाथी पर्वत *के सानु-देश पर ढूँसा मारने का खेल खेल रहा हो!* किसी दिन इन्द्र के मतवाले हाथी ने इसी प्रकार ढूँसा मारकर कुबेर का बगीचा बरबाद कर दिया था। यक्ष का सोने का संसार धूल में मिल गया। वह दुनिया के एक कोने में फेंक दिया गया, प्रिया से दूर—बहुत दूर। आज यह मेघ भी मतवाले हाथी के समान पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मार रहा है। यक्ष का हृदय चंचल हो उठा। उसे अपनी प्रिया का ध्यान आया—तपे हुए सोने के समान वर्ण, छरहरा शरीर, नुकीले दाँत, पके बिम्बफल के समान अधर, चकित हरिणी के समान नेत्र—विधाता की मानो पहली रचना हो, जब उनके पास सब सामग्री पूरी मात्रा में थी, कहीं उन्होंने कृपणता नहीं दिखायी; शोभा की खानि, सौन्दर्य की तरंगिणी, कमनीयता की मूर्त्ति। हा विधाता, आज फिर यह हाथी आया! क्या अनर्थ करेगा यह? लेकिन यक्ष ने ध्यान से देखा, यह हाथी के समान दिखायी देनेवाला जीव हाथी नहीं है, पहाड़ पर अटका हुआ मेघ है। भीगी हवा के झोंकों से हिल रहा है, आगे बढ़ता है, पीछे हटता है, झूमता है, झमकता है! ना, यह ढूँसा मारनेवाला हाथी नहीं है। यह तो हवा के झोंके से झूमनेवाला मेघ है। विरह से

उसका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, हाथ में का सुवर्ण कंकण ढीला होकर खिसक गया था, जैसे पतझड़ के मौसम में खड़ा देवदारु का वृक्ष हो—श्री-हीन, सौन्दर्य-हीन। '[illegible]' के वियोग में ऐसी निर्बलता भी आ जाती है!

आठ मास बीत गये, पर अब नहीं सहा जाता। प्रियवियोग के आठ मास! रामगिरि का कोना-कोना रामप्रेममय जीवन की स्मृतियाँ ताजी करता रहता था। कनक-वलय के भ्रष्ट होने से मालूम हुआ कि अब शरीर असमर्थ हो गया है। अब नहीं सहा जायेगा और इसी बीच आषाढ़ का प्रथम दिवस, पर्वत के सानु-देश पर ढूँसा मारनेवाले मतवाले हाथी-सा दिखनेवाला यह काला मेघ! हा राम!

> तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
> नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।
> आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
> वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ 2 ॥

विरह का मारा यक्ष मेघ के सामने आकर खड़ा हो गया। मेघ ही तो है! बलिहारी है इस मसृण-मेदुर कान्ति की! राजराज कुबेर के उस हतभाग्य अनुचर की आँखों में आँसू आये और आकर रुक गये। कितनी भक्ति और निष्ठा के साथ उसने मालिक की सेवा की थी और कितने दिनों तक! जरा-सी गलती पर उन्हें क्या उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए था? आज वह इस नील-मेदुर कान्तिवाले मेघ के सामने ऐसा जबदा खड़ा है कि आँसू भी नहीं निकल पा रहे हैं। मेघ को देखकर सुखी लोगों का चित्त भी कुछ और-का-और हो जाता है, विरही तो विरही है। जिनके प्रणयी नजदीक हैं—इतने नजदीक कि गले से गला उलझा हुआ—वे भी व्याकुल हो जाते हैं; फिर उन लोगों की क्या अवस्था होगी, जो प्रिय से दूर हों, जहाँ चिट्ठी-पत्री भी दुर्लभ हो! यक्ष यही सोचता हुआ देर तक मेघ के सामने खड़ा रहा। पर खड़ा क्या हुआ जाता था? उत्कण्ठा जगानेवाले मेघ के सामने खड़ा होना क्या सहज है? फिर भी वह खड़ा रहा, देर तक खड़ा रहा। उसके हृदय में तूफान आये और गये—पुरानी बातें एक-एक करके उठीं और विलीन हुईं। क्या था, और क्या हो गया! वह 'अन्तर्बाष्प' हो रहा। आँसुओं का पारावार भीतर ही विक्षुभित हो रहा था, बाहर उसका

रास्ते में जाने कितनी नदियाँ हैं, कितने पहाड़ हैं, वर्षा का भयंकर मार्ग-रोधी काल है। बड़े-बड़े राजे भी इन दिनों घर से निकलने की हिम्मत नहीं करते। परिव्राजक जन भी चुपचाप कहीं बैठ रहते हैं। इस दुर्घट काल में कौन सन्देशा ले जायेगा ? सावन तक सन्देशा अवश्य पहुँच जाना चाहिए। रामचन्द्र का सन्देशा तो महाबलवान हनुमान ले गये थे। पर यक्ष को ऐसा दूत कहाँ मिलेगा ? ना, यह असम्भव बात है। यक्ष ने व्याकुल भाव से सोचा कि कौन कामचारी ऐसा है, जो उसका सन्देशा ले जाये। सन्देशवाहक के पहले ही मेघ पहुँचा, तो फिर कोई आशा नहीं, प्रिया के प्राण-पखेरू उड़ जायेंगे। फिर कहाँ का सन्देशा और कहाँ का प्रेम ! जब सन्देशवाहक के पहले मेघ ही सावन में अलकापुरी में पहुँचेगा, तो क्यों न मेघ को ही सन्देशवाहक बनाया जाये ? यक्ष का चेहरा क्षण-भर में खिल उठा। इतनी सीधी-सी बात समझने में इतनी देर लगी ! उसने तुरन्त ताजे कुरैया के फूलों को तोड़कर प्रीति-स्निग्ध कण्ठ से मेघ को भेंट किये—स्वागत है, नवीन जीवन ले आनेवाले प्रेम-वाहक बलाहक ! स्वागत है ! यह अर्घ्य ग्रहण करो, श्रद्धा और प्रीति का अर्घ्य। स्वागत है, नील मेदुर कान्तिवाले मोहन घनश्याम, स्वागत है !

> प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी
> जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
> स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
> प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ 4 ॥

लेकिन यह तो पागलपन की हद है ! 'धूम-धूम-नीर औ समीरन को सन्निपात, ऐसो जड़ मेघ कहा दूत-काज करि है ?'—आज तक यह हुआ भी है ? धुएँ, प्रकाश, जल और वायु से बना हुआ मेघ कहाँ, और सन्देश ले जानेवाला चतुर सन्देशवाहक कहाँ ! यक्ष का दिमाग खराब हो गया क्या ? वररुचि ने बताया है कि प्रेमपत्र ले जानेवाले को बहुत सावधान होना चाहिए। उसे हर अवस्था की सुकुमारता का ज्ञान होना चाहिए। हर्षातिरेक से विरही के प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं, कभी लम्बी भूमिका से उनका दम घुट जाता है, कभी अनुकूल लोगों की संगति में बैठे हुए विरही शुभ सन्देश के फलस्वरूप कष्ट पाने लगते हैं—हजार बातों का ध्यान

लगता होगा है। और वह भाग्यहीन यक्ष इस जड़ मेघ को प्रेम-सन्देश का वाहक बनाना चाहता है!

मगर यक्ष को यह सब सोचने की फुरसत नहीं थी। वह कामनाओं से कातर था, और दुःख से आर्त था। 'आरत के चित रहै न चेतू'—वह होश में नहीं था। ऐसा प्रायः देखा गया है कि प्रेम-वियोग की पीड़ा से जो लोग व्यथित होते हैं, वे चेतन-अचेतन, बड़े-छोटे सबके सामने दयनीय होकर—कृपण होकर—उपस्थित होते हैं। मानो हर आदमी उनके साथ सहानुभूति ही दिखायेगा, हर ईंट-पत्थर उनकी सहायता ही कर देगा! क्यों ऐसा होता है? क्या प्रेम-दशा में उद्विग्न व्यक्ति संसार के प्रत्येक जड़-चेतन के भीतर किसी अन्तर्विलीन विराट् चेतना का सन्धान पा जाता है? जरूर पा जाता होगा। यक्ष तो अवश्य पाने में समर्थ हुआ था। उसने मेघ को परम सहानुभूति-सम्पन्न मित्र के रूप में ही देखा, उसने हृदय गला देने-वाला सन्देश भेजा। अत्यन्त विश्वसनीय घनिष्ठ मित्र के सिवा और किसी से यह सन्देश नहीं कहा जा सकता। उसे आप पागल कहें, प्रकृतिकृपण कहें; पर उसने जगत् के भीतर निरन्तर स्पन्दित होनेवाली विराट् चेतना को पहचान लिया था।

> धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
> सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
> इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे
> कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ 5 ॥

पुरानी कहानी का कथामुख या भूमिका-भाग इतना ही है। आधुनिक पाठक कुछ और जानना चाहेगा। यक्ष उस समय—किस समय? प्रातःकाल, दोपहर को या सन्ध्या समय?—किधर मुँह करके बैठा था? मेघ पर्वत के किस किनारे लगा हुआ था? इस सम्बन्ध में कालिदास ने कुछ नहीं बताया। यक्ष का नाम तक तो बताया ही नहीं, फिर अधिक की क्या आशा की जाय? मगर हवा जरूर दक्षिण से आ रही थी और मेघ महाशय भी उत्तर की ओर चलने को प्रस्तुत जान पड़ते हैं। अनुमान किया जा सकता है कि इस यक्ष-जैसा विरही सदा उत्तर की ओर मुँह करके बैठा रहता होगा। उसकी प्रिया उत्तर की ओर ही रहती थी। रामगिरि

छूट गया, उसे छूटा ही रहने दिया जाय।

## 2

स्वागत-वचन बोलने के बाद यक्ष सोचने लगा कि क्या उपाय करूँ कि यह मेघ प्रसन्न होकर मेरा काम कर दे। कुछ ऐसा कहना चाहिए, जिससे पहले ही वाक्य में यह सन्तुष्ट हो जाय। कहीं ऐसा न हो कि प्रथम वाक्य से ही नाराज हो जाय। जिससे काम लेना हो, उसकी थोड़ी खुशामद तो करनी ही चाहिए। प्रिय सत्य के बोलने का आदेश तो शास्त्र ने भी दे रखा है। सबसे बड़ी खुशामद वंश की प्रशंसा है। कम लोग होंगे, जो इस अस्त्र से घायल न हो जाते हों। यक्ष का दिमाग थोड़ा गड़बड़ जरूर हो गया था, लेकिन उसके अन्तर्गूढ मानस-भाण्डार मे विचार-शृंखला बनी हुई थी। केवल ऊपरी सतह पर आलोडन का वेग अधिक था, गहराई में विशेष अन्तर नहीं आया था। इसीलिए उसने ठीक ढंग से—शास्त्र-नियमों के बिल्कुल अनुकूल रूप मे—खुशामद शुरू की। बोला—"भाई मेघ, मैं तुम्हें जानता हूँ, तुम्हारे पुरखों को जानता हूँ। ऐसा कौन होगा, जो पुष्कर और आवर्तक-जैसे महान् मेघों को न जानता हो! महाकाल जब अपनी सृष्टि-रचना की क्रीडा का उपसंहार करना चाहते है, तो कौन उनकी सहायता करता है? कौन अपने प्रलयंकर गर्जनों और धारासार वर्षणों से त्रैलोक्य को विकम्पित कर देता है? सारा संसार पुष्कर और आवर्तक-जैसे महान् मेघों की कीर्ति से परिचित है। ऐसे प्रतापी कुल मे तुम्हारा जन्म है; तुम इस भुवनविदित वंश मे उत्पन्न हुए हो। महान् कुल मे महान् लोग ही पैदा होते है। शिव की जटा से ही वीरभद्र उत्पन्न हो सकते है। समुद्र से ही कौस्तुभ का जन्म सम्भव है। ऊंचे कुल मे ही महान् पुरुष पैदा होते हैं। मैं तुम्हारे वंश को जानता हूँ, और तुम्हे भी जानता हूँ। तुम इन्द्र के प्रकृति-पुरुष हो—पब्लिक-रिलेशन्स-आफिसर! तुम ही प्रजा-प्रकृति से उनका सम्बन्ध स्थापित करते हो। तुम्हारे ही बल पर इन्द्र की सारी लोकप्रियता है। तुम ऐसे-वैसे अफसर नहीं हो। काम-रूप हो, इच्छानुसार रूप ग्रहण कर सकते हो। जरूरत पड़ने पर भारी पड़ गये, फिर मौका देखकर हल्के बन गये। कभी ऐसा गर्जन किया कि दुनिया

काँप उठो, कभी ऐसा वरसे कि संसार पानी-पानी हो गया। तुम्हारी कामरूपता मुझसे अपरिचित नहीं है। जैसा तुम्हारा कुल बड़ा, वैसा ही तुम्हारा काम बड़ा। तुम मानसरोवर के सहस्रदल कमल हो। मैं भाग्य का मारा प्रार्थी हूँ। एक छोटी-सी प्रार्थना लेकर तुम्हारे पास आया हूँ। देखो महान् मेघराज, मैं प्रिय-वियुक्त हूँ। विधाता मुझसे अप्रसन्न है। सब-कुछ सोच-समझकर ही तुम्हारे पास आया हूँ। मेरी प्रार्थना तुम ठुकरा दोगे, तो भी मैं बहुत विचलित नहीं हूँगा। बड़ों के पास याचना करनी चाहिए, अगर सफल नहीं भी हुई, तो अधम से की गयी सफल प्रार्थना से अच्छी ही रहेगी। मैं दान नहीं, दाता देखता हूँ। महत्त्व की बात यह नहीं है कि क्या मिला। महत्त्व की बात है कि किससे मिला। 'दान तो ना चाइ, चाइजे दाता!' सो महान् मेघ, मैं बहुत दुखी हूँ, बन्धु से—प्रियजन से—दूर।"

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥ 6 ॥

यक्ष ने यदि प्रिया-विरह से अत्यन्त कातर होकर मानसिक सन्तुलन न खो दिया होता, तो थोड़ी देर रुककर देखता कि महान् मेघराज के चित्त पर प्रभाव क्या पड़ा। पुष्कर और आवर्तक-वंश के कुलदीप ने कुछ समझा भी या नहीं। परन्तु यक्ष को इतनी फुरसत नहीं थी। फिर इतना शास्त्र-शुद्ध युक्ति-तर्क-संगत स्तुति-वाक्य कभी व्यर्थ हो सकता है? जरूर मेघ ने उसकी प्रार्थना सुन ली है। उसने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मेघ सावधान हो गया है। उसने ढूँसा मारने की क्रीड़ा छोड़ दी है। शायद सन्ध्या थोड़ी और गाढ़ हो आयी थी और भीगी हवा कुछ और आर्द्र होकर स्तब्ध हो गयी थी और इसीलिए मेघ की चपलता कम हो गयी थी। यक्ष का हृदय गद्‌गद् हो गया। विधाता आज बहुत अप्रसन्न नहीं है, मेघ प्रार्थना सुनना चाहता है। मानो प्रसन्न हास्य के साथ पूछ रहा है—'कहो, क्या कहना चाहते हो, अवहित हूँ।' यक्ष ने कातर भाव से कहा.

सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।

गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणां
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥ 7 ॥

"हे जलद, तुम सन्तप्त व्यक्तियों को शरण देते हो। मुझसे बड़ा सन्तप्त और कौन होगा? मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। देखो, कुबेर के क्रोध से मेरा सत्यानाश हो गया है। मैं अपनी प्राणप्रिया से वियुक्त हो गया हूँ। उसी के पास तुम्हें मेरा सन्देश ले जाना है। यक्षेश्वरों की जो बस्ती अलका है, वहीं वह रहती है। अलका देखने-लायक नगरी है। उसमें बड़े-बड़े हर्म्य हैं। 'हर्म्य' समझ गये न? इधर लोग धनिकों के मकान को हर्म्य कहने लगे हैं। लेकिन असली बात यह है कि धनसेठों की घनी अट्टालिकाओं से भरी बस्ती में बहुत कम मकान ऐसे होते हैं, जिनमें घर्म या धूप पहुँच सके। जो बहुत ऊँचे होते हैं, वे ही 'घर्म्य' हो पाते हैं। 'घर्म्य' शब्द ही ज़रा मुलायम होकर 'हर्म्य' बन गया है। 'हर्म्य' अर्थात् वे ऊँची अट्टालिकाएं, जिनके ऊपरी तल्ले में अनायास धूप पहुँच जाती हो। अलका में ऐसे हर्म्यों की ठेलम-ठेल है। और इन हर्म्यों में धूप जो आती है सो तो आती ही है, इनकी बड़ी भारी विशेषता यह है कि ये नित्य चाँदनी से धुलते रहते हैं। कैसे? नगरी के बाहरी उद्यान में शिवजी रहते हैं और उनके सिर में सदा चन्द्रमा की कला वर्तमान रहती है, उसी से ये धुलते रहते हैं। नहीं प्यारे, तुमने ठीक नहीं समझा। आसमान से जो चाँदनी बरसती है, उससे महल भीज सकते हैं, धुलते नहीं। किन्तु अलका की अट्टालिकाएँ शिव-शिर स्थिता चन्द्रकला से धुलती रहती हैं। ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, दाहिने से बायें और बायें से दाहिने न जाने कितनी बार यह चाँदनी अट्टालिकाओं को अपनी पवित्र तरंगों से धोती रहती है। जानते हो क्यों? नटराज जब उल्लसित होकर ताण्डव-लिप्त होते हैं, तो चन्द्रकला को सैंकड़ों चारियों में घूमना पड़ता है, बीसियों अंगहारों में विलसित होना पड़ता है और डमरू के ताल-ताल पर जब उनकी चचल भृकुटियाँ थिरक उठती हैं, तो चन्द्रकला निरन्तर तरगमाला विकीर्ण करती रहती है। इसीलिए कहता हूँ मित्र, अलका की अट्टालिकाएँ चन्द्र-किरणों से निरन्तर धौत होती रहती हैं।"

यक्ष जानता था और उसे आशका थी कि कामचारी मेघ भी जानता

ही होगा कि संसार में सिर्फ दो नगरियों को यह सौभाग्य प्राप्त है—अलका को और काशी को। दोनों ही धूर्जटि के आनन्द-लोल ताण्डव से नित्य उल्लसित रहती हैं, दोनों की अट्टालिकाएँ हर-शिरोविहारिणी चन्द्रकला की पवित्र तरंगों से धुलती रहती हैं। परन्तु दोनों में अन्तर भी है। काशी साधकों की पुरी है, अलका सिद्धों की, काशी का साधक ऊपर उठता है, अलका के भोगी लोगों का पुण्य निरन्तर क्षीण होता रहता है, काशी कर्म-क्षेत्र है, अलका भोग-क्षेत्र। मेघ कह सकता है कि उसे यदि 'हरशिरश्चन्द्रिका-धौतहर्म्या' नगरी देखनी ही हो, तो वह काशी चला जायेगा, अलका क्यों जायेगा? मर्त्यवासी धर्म के प्रेमी हैं, देवताओं की भोग-भूमि में जाकर वे मूर्ख क्यों बनें? ठीक है, परन्तु काशी के शिव का ताण्डव आरूढ़ साधक देख पाते हैं, आररक्षु को वह नहीं दीखता, और अलका में यह सब झमेला नहीं है। इसीलिए वहाँ अनायास ही शिव के ताण्डव का नयनहारी दृश्य देखना सम्भव है। काशी में बसने की सलाह दी जाती है, अलका में दो-चार दिन के लिए घूमने-फिरने की। इसीलिए यक्ष बिना साँस रोके सब कह गया—"सन्देश ले जाना है तुम्हें (वहीं बस नहीं जाना है), मैं कुबेर के क्रोध का शिकार हूँ, इसलिए यहाँ दीख रहा हूँ (इस पहाड़ का निवासी नहीं हूँ), तुम्हें अलका जाना है (किसी मामूली शहर में नहीं), वहाँ धूर्जटि के अपूर्व ताण्डव से ताण्डवमान चन्द्रमरीचियों की अपूर्व तरंगमाला दिखेगी (बिना कठोर साधना के तुम और वहाँ यह नहीं पा सकते) और सबसे बढ़कर सन्तापदग्ध विरहिणी को शीतल करना है (जो तुम्हारे-जैसे कुलीन का स्वाभाविक धर्म है), सो भाई, देरी मत करो।"

अचानक यक्ष ने देखा कि मेघ के ऊपर तो सिरे पर हल्की-सी बिजली की रेखा थिरक गयी! तो क्या मेघ मुस्करा रहा है? क्यों? शायद उसने समझ लिया है कि यक्ष खुशामद कर रहा है, स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रलोभन दिखा रहा है। चाटु-वाक्य और उत्कोच, दोनों का प्रयोग कर रहा है। उसका मन बैठ गया—"गलत समझ रहे हो भाई मेघ, मैं सिर्फ स्वार्थ की बात नहीं कर रहा हूँ। सचमुच तुम उपकारी हो। जब हवा के मार्ग से तुम चल पड़ोगे, तो प्रवासी पतियों की प्रियाएँ बड़े विश्वास के साथ तुम्हें देखेंगी। हाय, हाय, दीर्घ-विरह से उनके केश अस्त-व्यस्त हो गये होंगे।

प्रवासियों के मन में उत्साह होता है जो अनुकूल देता है, आकाश का जो आधार है, उस पर तुम मजा करते रहते हो। पुरवैया को जगाने का कौतूहल दिखाता है तुम्हें जो मिलता है। विरहिणी यदि तुम्हें देखकर आश्वस्त होती है, तो उसका आश्वस्त होना अकारण नहीं है। तुम हवा पर चढ़े नहीं कि विरही प्रवासियों की दुनिया में घर पहुँचने की हड़बड़ी आती नहीं! मेरे-जैसा कोई भाग्यहीन पराधीन जन हो, तो बात दूसरी है, नहीं तो कोई भी स्वाधीन विरही भरे आषाढ़ में प्रिया से दूर नहीं रह सकता। इसीलिए कहता हूँ, तुम अन्यथा न समझो। तुम सिर्फ मेरा नहीं, सारी दुनिया का उपकार करोगे।

> त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ता,
> प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिता. प्रत्ययादाश्वसन्त्य.।
> क: सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
> न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो य: पराधीनवृत्ति: ॥ 8 ॥

"तो अब देर मत करो। शुभस्य शीघ्रम्। यात्रा का ऐसा सुन्दर क्षण तुम्हें नहीं मिल सकता। मन्द-मन्द चलनेवाली हवा तुम्हारे अनुकूल बह रही है। यह शुभ लक्षण है। बड़े लोग यात्रा करनेवालों को 'शान्त और अनुकूल पवन' पाने का आशीर्वाद दिया करते हैं। कण्व ने अपनी प्यारी कन्या को यात्रा के समय 'शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्था:' कहकर आशीर्वाद दिया था। वह तुम्हें आज अनायास प्राप्त है। कितनी मीठी हवा

है, कितनी सरस, कितनी मन्थर ! और तुम्हारे पीछे से वह मन्द-मन्द चल रही है। यही तो सानुकूल पवन है। मगर इतना ही नहीं है। शकुन भी पूर्ण रूप से तुम्हारे अनुकूल है। बायीं ओर पपीहे का आ जाना यों ही बहुत शुभ शकुन है, फिर यह चातक तो तुम्हारा धर्मसिद्ध सम्बन्धी है। ऐसा प्रेमी दुर्लभ है। मर जायगा, मगर तुम्हारे सिवा और किसी का जल नहीं ग्रहण करेगा। देखो जरा इसका गर्वीला चेहरा ! जान पड़ता है त्रैलोक्य का राज पा गया है। आज यह सब प्रकार से सनाथ है, सम्बन्धों के मिलने से प्रसन्न, स्नेहयुक्त और प्रिय-मिलन की आशा से उत्पन्न नैसर्गिक सौरभ से सुरभित। कैसी मीठी आवाज है इसकी ! वाह! आज शुभयात्रा का यह ही मनोहर योग है —शान्त और अनुकूल पवन, वाम भाग में गर्वीले चातक की मधुर ध्वनि और एक और भी चीज जो इस समय तो नहीं दिखायी दे रही है, लेकिन तुम्हारे प्रस्थान करते ही ठीक पीछे से आकर उपस्थित हो जायेगी। बात यह है कि ज्यों ही तुम आकाश में थोड़ा ऊपर उठोगे, तो बलाकाओं (बक-बालाओं) को स्पष्ट हो जायगा कि अब उनके गर्भाधान के आनन्दोत्सव का समय आ गया और कतार बाँधकर वे तुम्हारे पीछे-पीछे निकल पड़ेंगी। शायद तुम नहीं जानते कि यह तुम्हारा मसृण-मेदुर रूप कितना सुन्दर है! यह रूप नयन-सुभग है। 'नयन-सुभग' का अर्थ तुमने शायद नहीं समझा। 'सुभग' उस व्यक्ति को कहते हैं, जिसके भीतर स्वाभाविक रूप से वह रंजन गुण रहता है, जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। उसके इस आन्तरिक वशीकरण धर्म को 'सौभाग्य' कहते हैं। विधाता सहृदय को अपने हाथ से जो दस गुण देते हैं, उनमें यह अन्तिम है। अन्तिम भी और श्रेष्ठ भी। (रूप वर्ण, प्रभा राग आभिजात्य विलासिता। लावण्य लक्षण छाया सौभाग्य चेत्यमी गुणाः)। तुम मित्र, हर प्रकार से सुभग हो—नयन-सुभग ! तुम्हारा यह रूप क्या छिपाये छिपेगा ? एक बार तुम आसमान में उड़ान लो। देखो, जगत् का अशेष प्रीति-भाण्डार किस प्रकार उद्वेलित हो उठता है। शान्त और अनुकूल पवन, बायीं ओर गर्वीले चातकों की मधुर ध्वनि और पीछे-पीछे आनन्दोल्लास से प्रमत्त बलाकाएँ—आहा, इतने शुभ शकुन एक साथ कहाँ मिलेंगे ?"

साथ नित्य उद्दीप्त होती है और प्रत्यूष-काल के उदीयमान नवभास्कर की रागारुण ज्योति-रश्मियों से नित्य दृढ़ निबद्ध होती रहती है। उसकी एक-एक क्रिया में प्रिय-कल्याण की मंगल-भावना है, प्रत्येक धड़कन में प्रिय के सकुशल आगमन की दिव्य प्रार्थना है, प्रत्येक निःश्वास में व्याकुल यह विनिवेदन है—'हे भगवान्, वे जहाँ हों, वहीं उनका मंगल हो, मेरा व्रत उनकी रक्षा करे, मेरी पूजा उनका कल्याण करे, मेरा पुण्य उन्हें विजयी बनावे!' पतिव्रता का आशाबन्ध इतना दुर्बल नहीं होता मित्र, कि इतनी जल्दी बिखर जाय। उनमें आत्म-दान का तेज होता है, कठोर संयम की दृढ़ता होती है और अनन्यगामी प्रेम का वज्रलेप होता है। मैं कहता हूँ, मेरी बात पर विश्वास करो, तुम्हारी पतिपरायणा भ्रातृजाया जीवित है। दुर्बल वह अवश्य होगी, दिन गिनते-गिनते उसकी अँगुलियाँ जरूर नख-जर्जर हो गयी होंगी, परन्तु उसे तुम देखोगे अवश्य!

> तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
> मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
> आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
> सद्यः पाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥ 10 ॥

"क्या कहा? साथी कहाँ है? इतनी दूर अकेले कैसे जा सकोगे? बड़े भोले दिखते हो सखे! गुणी लोग अपने गुण से प्रायः अपरिचित होते हैं। पहले ही कह चुका हूँ, तुम सब प्रकार से सुभग हो। तुम्हारे पास प्रेमी मित्र तो अनायास खिंच आयेंगे। पुष्प कहीं भौंरों को निमन्त्रण देता है? चुम्बक कहीं लोहे को पुकारता फिरता है? समुद्र क्या नदियों की खुशामद करता फिरता है? नहीं, यह सौभाग्यधर्म का स्वाभाविक खिंचाव है। यह जो कण-कण में खिंचाव है, ग्रह-तारा और भू-मण्डल में आकर्ष-रश्मियों का महाकर्ष-जाल बिछा हुआ है, वह सहज आकर्षण की महिमा है सखे! तुम्हारा रूप 'नयन-सुभग' है। उसे देखते ही बलाकाएँ उत्सुक हो उठती हैं और तुम्हारा यह गर्जन 'श्रवण-सुभग' है। एक बार इसमें वायु-मण्डल में हल्का-सा कम्पन होने दो और देखो कि धरती का अशेष मातृत्व किस तेजी से फट पड़ता है। मैं हैरान होकर सोचता हूँ कि कहाँ से सिलीन्ध्रों—कुकुरमुत्तों—की यह विशाल सेना एकाएक जाग उठती है! जरा-सा

[illegible] तुम्हारे गर्जन से कम्पित हुआ नहीं कि धरती के कण-कण में वेपथु-कम्पन उत्पन्न हो जाते हैं। यह निःशेष भाव में अपने अन्तरतर की सारी महिमा न-जाने किस महा अनजाने को निवेदन करने के लिए व्याकुल हो उठती है। यही प्रकट होते हैं ये शोभन-शिलीन्ध्र —कोमल, अनाडम्बर! सृष्टि के [illegible] यौवन के प्रतिरूप! तुमको पता भी नहीं कि तुम्हारा श्रवण-सुभग गर्जन किस प्रकार धरती को देखते-देखते उच्छिलीन्ध्र बनाकर उसकी अवन्ध्यता की घोषणा करता है—मानो किसी विराट् चैतन्य की विग्रहवती पुकार हो, मानो विपुल विश्व में व्याप्त चेतना के पुनरुद्गम को जगानेवाला मोहन वाक्य हो। कौन है, जो इस श्रवण-सुभग गर्जन को सुनकर तुम्हारे पीछे दौड़ पड़ने को व्याकुल न होगा? एक बात तो निश्चित है। तुम्हारे इस अकारण व्याकुल बना देनेवाले, अनायास उत्सुक कर देनेवाले—श्रवण-सुभग—गर्जन को सुनकर मानसरोवर जाने को उत्कण्ठित राजहंस कमलिनी-लता के मृदुल किसलयों का पाथेय लेकर उड़ेंगे और कैलास तक तुम्हारा साथ देंगे। हंसों को तो तुम जानते हो मित्र! कितने व्याकुल हो उठते हैं तुम्हारे गर्जन से! वे उड़ते हैं, उड़ते हैं, उड़ते हैं—अक्लान्त, अश्रान्त! कहाँ जाते हैं? मानसरोवर को! क्यों जाते हैं? हाय-हाय, कहीं तुम उनकी व्याकुल पीड़ा को जान पाते! न जाने कितने युगों से विधाता ने उनके हृदय में यह व्याकुल चांचल्य भर दिया है। नित्य नवीन होते रहने की व्याकुल लालसा। सन्तान-परम्परा में अपने-आपको सुरक्षित रखने की दुर्दम्य वासना! क्यों ऐसा होना है? प्रजापति की सहायता के लिए विधाता ने इतनी मीठी पीड़ा—पुष्प-बाणों की इतनी निर्मम चोट—क्यों बनायी? कोई नहीं जानता सखे, कोई नहीं जानता कि क्या होगा इस अद्भुत सृष्टि-प्रक्रिया का! परन्तु जो हो, तुम निश्चित समझो, राजहंसों का दल तुम्हारा अन्त तक साथ देगा। तुम्हारे श्रवण-सुभग गर्जन से जगी हुई व्याकुल मधुर पीड़ा उन्हें चैन से बैठने नहीं देगी। वे तुरन्त तुम्हारे साथ हो जायेंगे। साथी की क्या कमी है?

> कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्या
> तच्छ्रुत्वा ते श्रवण-सुभगं गर्जितं मानसोत्का।

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले-काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ॥ 12 ॥

3

यक्ष ने ध्यान से देखा, तो स्पष्ट प्रतीत हुआ कि मेघराज गमनतत्पर बनने को प्रस्तुत है। उसके घने-घिरने श्यामल शरीर में एकदम अचंचल भाव आ गया था। पानी-पानी होकर गिर पड़ने को उत्सुक बाष्पपुंज का प्रत्येक कण निःस्पन्द हो गया था और निर्मल जलसीकरों के भार से उसका अंग-अंग अवहित मनुष्य की भाँति शान्त-स्तब्ध हो गया था। मेघ इस बार

'जलद' रूप में दिखाई दिया। जल-दान से समस्त जगत् को परितृप्त करने के सामर्थ्य के कारण ही मेघ को 'जलद' कहते हैं। तृप्ति सुमगति को यह नाम नहीं दिया जा सकता —'जलदानेन हि जलदो न हि जलदो तृप्तिकरो भूतो' मेघ जलद है, अपने-आपको दरिद्र ब्राह्मण की तरह से निचोड़कर दे डालने वाला! जिस समय यह परिपूर्ण होता है, उस समय यह समस्त विश्व का है, उसके शरीर का कण-कण सब दूसरों की तृप्ति के लिए है। निःशेष भाव से अपने-आपको दे डालना ही वास्तविक सौन्दर्य है। जलद अपने को निःशेष भाव से देता है, यही तो उसकी शोभा है—'रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्री.।'

परन्तु यक्ष के मन में यहीं एक आशंका हुई। मेघ उन यक्षों की जाति का नहीं है, जो केवल संचय ही करना जानते हैं, यह तो उन दानजन्मा मानवों की जाति का है, जो केवल लुटाना ही जानते हैं—दोनों हाथों से लुटाते हैं, लुटाते हैं, लुटाते हैं! ऐसे फक्कड़ों का क्या ठिकाना! अड़े तो अड़ गये, ढले तो ढल गये। मेघ भी उन्हीं मस्त-मौला लोगों की टोली का जीव है। किधर चलने को हुए और किधर निकल गये। दुखी कहाँ नहीं हैं, सन्ताप किस दिशा में नहीं मिलते? जिसने दुखियों का दुःख ही दूर करने का व्रत ले रखा हो, उसका कार्यक्रम क्या होगा! ना, मेघ महाशय को रास्ता अवश्य बता देना चाहिए। पता नहीं ये फक्कड़राम झूमते-झूमते—सरटम-पसटम—जब तक अलका पहुँचेंगे तब तक यक्षप्रिया की क्या दुर्दशा हो जाये। दूसरे मेघ पहुँचकर न जाने क्या ऊधम मचा देंगे। यही सोचकर यक्ष ने कहा—"भाई जलद, तुम्हारा व्रत मुझे मालूम है। तुम अपार जल-सम्पत्ति लुटाने के व्रती हो। मगर दोस्त, लुटाने से ही तो लुटाने का व्रत नहीं निभता! कुछ संग्रह भी होना चाहिए। यह मैं मानता हूँ कि संग्रह करने के लिए ओछों के पास नहीं जाना चाहिए, जिससे लिया जाय वह भी समानधर्मा होना चाहिए—मस्त-मौला, कल की फिकर न रखने-वाला। सो सुनो, तुम्हें ऐसा रास्ता बताये देता हूँ, जो तुम्हारे इस महान् व्रत का सहायक होगा। ऐसा रास्ता, जिसमें चलो तो जितना चाहो लुटाओ और जितना चाहो फिर भर लो। ऐसी-ऐसी नदियाँ जो बिल्कुल तुम्हारी ही तरह फक्कड़, तुम्हारी ही तरह आत्मदान में समर्थ और तुम्हारे एक

मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं
संदेशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम् ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां चोपभुज्य ॥ 13 ॥

"यहाँ जो यह [illegible] का ऊपर डटा रहे हो — जो सभी से तुम रहा है और तुम्हारी पुकारों का आदर किए बिना ही सहन रहा है — यहीं से तुम्हारी यात्रा शुरू होगी। यहीं से तुम्हें उत्तर की ओर चलना होगा। अभी तो तुम इस पर्वत के सानु-देश पर ही अटके हो, इसके शिखर को पार करने के लिए थोड़ा ऊपर उठके चक्कर काटना होगा। मेरे दोस्त, रास्ते में खिन्न यहीं से शुरू हो जायेंगे। जानते ही हो कि हिमालय और विन्ध्य पर्वत सिद्धों के सचरण से मोहक और पवित्र बने रहते हैं। जिस समय तुम आसमान में थोड़ा-सा ऊपर उठकर उत्तर की ओर बढ़ने के लिए उड़ान लोगे, उस समय तुम्हारी यह मृदुल-मेदुर छवि देखने ही योग्य होगी। सिद्धों की मुग्धवधुएँ आश्चर्य के साथ ऊपर मुँह करके देखेंगी और

चकित होकर सोचेंगी कि कहीं हवा पहाड़ के किसी शिखर को तो उड़ाये नही लिये जा रही है। उस चकित-चकित दृष्टि की शोभा का क्या कहना! उनका दोष भी क्या है मित्र? तुम्हारा जब यह जल-भार से भरित श्यामल शरीर आकाश में उठेगा, तो उसकी गुरुता, उच्चता और वर्ण-सौन्दर्य को देखकर मुग्धा वधुएँ पहाड़ की चोटी मान लें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मैं ठीक जानता हूँ दोस्त, उन 'बडरी अँखियान' को देखने के बाद तुम्हारा मन वहाँ उलझ जायेगा। लेकिन रुकना मत, और भी उत्साह से आगे बढ़ना। ये सिद्ध-वधुओं की 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' आँखें केवल शुभ यात्रा का निर्देश करेंगी। और भी मोहन, और भी सुन्दर वस्तुएँ आगे तुम्हारे मार्ग में मिलनेवाली हैं!

"लेकिन एक और भी विघ्न है। जिस बेत-वन के ऊपर से उड़ने को कह रहा हूँ, उसे मैं 'निचुल-निकुंज' कहा करता हूँ। इसलिए ही नहीं कि बेत को संस्कृत में 'निचुल' कहते हैं, बल्कि इसलिए कि महाकवि कालिदास के सहृदय मित्र 'निचुल' कवि से इसकी बड़ी समानता है। दोनो ही प्रतिकूल परिस्थितियों मे सरस बने रह सके हैं। निचुल कवि विपत्तियो से म्लान नही हुआ, दुःखों से कातर नही हुआ, प्रतिकूल परिस्थितियो मे सूख नही गया, सदा प्रसन्न, सदा सरस, सदा मस्त रहा! इस बेत-वन मे उसके स्वभाव की झलक मिलती है। परन्तु इसके ऊपर से जब तुम उड़ोगे और उत्तर की ओर बढ़ोगे, तो विन्ध्याटवी के घने जंगलों मे पहुँचोगे। पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैली हुई विन्ध्याटवी बड़ी विचित्र वनस्थली है। मरीच-पल्लव कुतरते हुए शुक-शावकों से मनोहर, कम्पिल्ल तरु को झकझोरते हुए वानर-यूथों से शोभित, जम्बूफलो के आस्वादन से अभिमत्त भल्लूक युवकों से भीषण और मदमत्त विशालकाय हाथियों के संचरण से भयंकर विन्ध्याटवी अपना उपमान आप ही है। रामगिरि के उत्तर के घने जंगलों में विचरण करते हुए पर्वताकार हाथियों को देखकर तुम्हे भ्रम होगा कि बड़े-बड़े दिग्गजों से अध्युसित वनखण्ड में पहुँच गये हो। इस घने जंगल को मैं 'दिङ्नागवन' कहता हूँ।

"क्यों कहता हूँ, बताऊँ? इन पर्वताकार हाथियो को दिङ्नाग या

दिग्गज कहना तो ठीक ही है, परन्तु ये लोग कालिदास के प्रतिस्पर्धी बौद्ध-पण्डित दिङ्नाग से अद्भुत समानता रखते हैं (और इन सरस निचुलों के स्वभाव से उनका पार्थक्य भी बहुत स्पष्ट है)। दिङ्नाग पण्डित बड़े शास्त्रार्थी थे। अपने तीक्ष्ण शर के समान वेध देनेवाले तर्क के मारे वे स्वयं परेशान रहते थे। तर्क की आँच में उनकी सारी सहृदयता सूख गयी थी। वे कालिदास से भी भिड़ पड़े थे। भला तर्क-कर्कश पण्डित और सहृदय रसवर्षी कवि का क्या मुकाबला! परन्तु दिङ्नाग तो उस गँवार पहलवान की भाँति हर आदमी को ललकारा करते थे, जो सबकी महिमा की परीक्षा पंजा लड़ा-कर किया करता था। दिङ्नाग को लोग पंजा लड़ानेवाला ही कहने लगे थे। उन्होंने 'हस्तबल-प्रकरण' या 'मुष्टि-प्रकरण' नामक ग्रन्थ लिखा था। परिहास में कालिदास के अनुयायियों ने 'मुष्टि-प्रकरण' का अर्थ कर लिया 'पंजा लड़ाने की कला बतानेवाला ग्रन्थ!' इस प्रकार दिङ्नाग पण्डित स्वयं 'हस्तबल' या 'मुष्टिबल' के कायल थे। इधर विन्ध्याटवी के दानवाकार हाथी भी प्रतिस्पर्द्धियों से सूँड़ (या हाथ) उठाकर लड़ पड़ते हैं। अब बताओ, इन दिग्गजों को 'दिङ्नाग' न कहूँ, तो क्या कहूँ? सो, भाई, तुम्हें थोड़ा बचके रहना होगा। दिङ्नाग लोग तुमको निश्चय ही विराट् गजराज समझेंगे। मैंने भी पहले तुम्हें पर्वत-सानु पर ढूँसा मारनेवाला हाथी ही समझा था। इन दिङ्नागों की मोटी सूँड़ में जो तुम उलझे, तो जल्दी छुटकारा नहीं मिलेगा। उसे बचा जाना। मूर्खों से कहाँ तक उलझोगे? 'सरस निचुल निकुंज' से 'दिङ्नागवन' का अन्तर तो समझ ही गये होगे।"

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥ 14 ॥

इतना कहकर यक्ष ने दिङ्नागवन की ओर देखा। क्या देखा? धरती फोड़कर निकला हुआ मनोहर इन्द्रधनुष आसमान के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया था। अहा, शोभा इसी को कहते हैं—ऐसा जान पड़ता था कि नाना रंग के सहस्रों रत्नों की मिलित प्रभा जगमग-जगमग

चकित होकर सोचेंगी कि कहीं हवा पहाड के किसी शिखर को तो उडाये नही लिये जा रही है। उस चकित-चकित दृष्टि की शोभा का क्या कहना! उनका दोष भी क्या है मित्र? तुम्हारा जब यह जल-भार से भरित श्यामल शरीर आकाश मे उठेगा, तो उसकी गुरुता, उच्चता और वर्ण-सौन्दर्य को देखकर मुग्धा वधुएँ पहाड़ की चोटी मान लें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मैं ठीक जानता हूँ दोस्त, उन 'बडरी अँखियान' को देखने के बाद तुम्हारा मन वहाँ उलझ जायेगा। लेकिन रुकना मत, और भी उत्साह से आगे बढना। ये सिद्ध-वधुओं की 'चकितहरिणीप्रेक्षणा' *आँखें केवल शुभ यात्रा का निर्देश करेंगी। और भी मोहन, और भी सुन्दर* वस्तुएँ आगे तुम्हारे मार्ग मे मिलनेवाली हैं!

"लेकिन एक और भी विघ्न है। जिस बेत-वन के ऊपर से उडने को कह रहा हूँ, उसे मैं 'निचुल-निकुज' कहा करता हूँ। इसलिए ही नही कि बेत को संस्कृत मे 'निचुल' कहते हैं, बल्कि इसलिए कि महाकवि *कालिदास के सहृदय मित्र 'निचुल' कवि से इसकी बडी समानता है।* दोनों ही प्रतिकूल परिस्थितियो मे सरस बने रह सके हैं। निचुल कवि विपत्तियो से म्लान नही हुआ, दु खो से कातर नही हुआ, प्रतिकूल परिस्थितियो मे सूख नही गया, सदा प्रसन्न, सदा सरस, सदा मस्त रहा! इस बेत-वन मे उसके स्वभाव की झलक मिलती है। परन्तु *इसके ऊपर से जब तुम उडोगे और उत्तर की ओर बढोगे, तो विन्ध्याटवी* के घने जंगलों मे पहुँचोगे। पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैली हुई विन्ध्याटवी बडी विचित्र वनस्थली है। मरीच-पल्लव कुतरते हुए शुक-शावकों से मनोहर, कम्पिल्ल तरु को झकझोरते हुए वानर-यूथों से शोभित, जम्बूफलों के आस्वादन से अभिमत्त भल्लूक युवको से भीषण और मदमत्त विशालकाय हाथियो के सचरण से भयंकर विन्ध्याटवी अपना उपमान आप ही है। रामगिरि के उत्तर के घने जंगलों मे विचरण करते हुए पर्वताकार हाथियो को देखकर तुम्हें भ्रम होगा कि बडे-बडे दिग्गजो *से अध्युसित वनखण्ड में पहुँच गये हो।* इस घने जगल को मैं 'दिङ्नागवन' कहता हूँ।

"क्यों कहता हूँ, बताऊँ? इन पर्वताकार हाथियो को दिङ्नाग या

जिसका अनुमान तो ठीक ही है, परन्तु वे लोग कालिदास के प्रतिस्पर्धी बौद्ध-दार्शनिक दिङ्नाग से अद्भुत समानता रखते हैं (और इन सरस निचुलों के स्वभाव से उनका पार्थक्य भी बहुत स्पष्ट है)। दिङ्नाग पण्डित बड़े शास्त्रार्थी थे। उनके तीक्ष्ण शर के समान वेध देनेवाले तर्कों के मारे वे स्वयं परेशान रहते थे। तर्क की ओर से उनकी सारी सहृदयता सूख गयी थी। वे कालिदास से भी भिड़ पड़े थे। भला तर्क-कर्कश पण्डित और सहृदय रसवर्षी कवि का क्या मुकाबला! परन्तु दिङ्नाग तो उस गँवार पहलवान की भाँति हर आदमी को ललकारा करते थे, जो सबकी महिमा की परीक्षा पंजा लड़ाकर किया करता था। दिङ्नाग को लोग पंजा लड़ानेवाला ही कहने लगे थे। उन्होंने 'हस्तवल-प्रकरण' या 'मुष्टि-प्रकरण' नामक ग्रन्थ लिखा था। परिहास में कालिदास के अनुयायियों ने 'मुष्टि-प्रकरण' का अर्थ कर लिया 'पंजा लड़ाने की कला बतानेवाला ग्रन्थ'।' इस प्रकार दिङ्नाग पण्डित स्वयं 'हस्तवल' या 'मुष्टिवल' के कायल थे। इधर विन्ध्याटवी के दानवाकार हाथी भी प्रतिस्पर्धियों से सूंड (या हाथ) उठाकर लड़ पड़ते हैं। अब बताओ, इन दिग्गजों को 'दिङ्नाग' न कहें, तो क्या कहें? सो, भाई, तुम्हें थोड़ा बचके रहना होगा। दिङ्नाग लोग तुमको निश्चय ही विराट् गजराज समझेंगे। मैंने भी पहले तुम्हें पर्वत-सानु पर ढूँसा मारनेवाला हाथी ही समझा था। इन दिङ्नागों की मोटी सूंड में जो तुम उलझे, तो जल्दी छुटकारा नहीं मिलेगा। उसे बचा जाना। मूर्खों से कहाँ तक उलझोगे? 'सरस निचुल निकुंज' से 'दिङ्नागवन' का अन्तर तो समझ ही गये होगे।"

> अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
> र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
> स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
> दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान् ॥ 14 ॥

इतना कहकर यक्ष ने दिङ्नागवन की ओर देखा। क्या देखा? धरती फोड़कर निकला हुआ मनोहर इन्द्रधनुष आसमान के एक किनारे से दूसरे किनारे तक फैल गया था। अहा, शोभा इसी को कहते हैं—ऐसा जान पड़ता था कि नाना रंग के सहस्रों रत्नों की मिलित प्रभा जगमग-जगमग

भर रही हो ! मानो किसी पास ही मुंहवाली बांबी में संचित मणिराशि से प्रभा की रंग-बिरंगी लहरें ऊपर की ओर एक साथ निकल रही हो—नानी-सी रंगीन प्रभा-रश्मि ! कहीं पास में ही इस मेघ के श्यामल सुन्दर शरीर पर इन्द्रधनुष की यह प्रभा पड़ जाती ! कितना मनोहर होगा उस समय वह श्यामल शरीर ! ऐसा जान पड़ेगा जैसे गोपाल वेश में साँवले शरीर पर मयूरपिच्छों की प्रभा जगमगा रही हो । मगर अचम्भा भी क्या है ? मेघ जब विपुल शिखर से ऊपर उठकर पश्चिम की ओर उड़ने के लिए चक्कर काटेगा, तो निस्सन्देह इन्द्रधनुष की यह मनोहर शोभा उसे श्याम-सुन्दर की कान्ति प्रदान करेगी । उसने गद्गद् भाव से कहा—"मित्र, मुझे बिल्कुल सन्देह नहीं है कि आज तुम इस इन्द्रधनुष के योग से नटवर-नागर की शोभा धारण करोगे । यों ही तुम उपकारी मित्र हो—कृषि का सारा दारमदार तुम्हारे ही ऊपर है—फिर यह मोहन रूप ! किसान मानो मित्र, जनपद-वधुओं की आँखें तुम्हारे इस सौन्दर्य को पी जाना चाहेंगी । उन वधुओं में शोभा, कान्ति और माधुर्य-जैसे सहज अयत्नज अलंकरणों की कमी नहीं मिलेगी, किन्तु उन कृत्रिम विलास-लीलाओं का कहीं पता भी नहीं चलेगा, जो स्त्री के रूप को मादक तो बना देते हैं, पर उसे देवत्व की मर्यादा से च्युत कर देते हैं । स्त्री का रूप संसार की सबसे पवित्र वस्तु है । शोभा, कान्ति और माधुर्य उससे अनायास बरसते रहते हैं और देखनेवाले को शान्ति देते रहते हैं । किन्तु लीला, विलास, विच्छित्ति, मोट्टायित और कुट्टमित भाव देखनेवाले को मत्त बनाते हैं । तुम्हें अमृत मिलेगा, इतना निश्चित है । शराब नहीं मिलेगी, यह भी तय है । उन प्रीतिस्निग्ध नयनों का आदर दुर्लभ वस्तु है मित्र, वह पावन है, निर्मल है, शामक है । तुम्हें थोड़ा पानी वहाँ बरसाना पड़ेगा । शरीर भी हल्का होगा, जी भी हल्का होगा । तत्काल जोती हुई धरती पर जब तुम्हारी फुहारें पड़ेंगी, तो सोंधी-सोंधी गन्ध निकलेगी और पहाड़ की उपरली सतह की समतल-भूमि सुगन्धि से भर जायेगी । थोड़ा-सा बरसोगे, तो शरीर हल्का हो जायेगा, चाल में तेज़ी आ जायेगी । ज़रा-सा पश्चिम की ओर चलकर जो उत्तर की ओर मुड़ोगे, तो सामने आम्रकूट—अमरकण्टक—पर्वत मिलेगा । लेकिन पश्चिम की ओर मुड़ना ज़रूरी है, नहीं तो रामगिरि के उत्तर के ऊँचे पहाड़ों में

करने लगेंगे।"

रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता—
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः ॥ 15 ॥
त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यःसीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण ॥ 16 ॥

यक्ष सोचने लगा : आम्रकूट—अमरकण्टक—इधर की पहाड़ियों में सबसे ऊँचा है, उसके चारों ओर सानु सानु-देश हैं। इसीलिए इसे सानुमान् कहते हैं। संसार में ऐसा पर्वत कदाचित् ही होगा, जिसके चारों किनारों में इस प्रकार की सानुभूमियाँ हों। इस पर्वत के चारों ओर नदियों का बहाव फैला है। मतलब यह कि यह इधर सबसे ऊँचा पर्वत है। जब मेघ अपनी वर्षा से इस पर्वत की वनभूमियों में लगे प्रचण्ड दावानल को बुझा देगा, तो यह ऊँचा पर्वत उस मार्गश्रम से क्लान्त उपकारी मित्र को क्या सिर-माथे नहीं लेगा? यह कैसे हो सकता है? क्षुद्र भी अपने उपकारी मित्र से विमुख नहीं होता, फिर आम्रकूट तो आम्रकूट है—ऊँचा, मेघ का ही समानधर्मा। निस्सन्देह। आम्रकूट मेघ को अपने मस्तक पर बैठायेगा। वह भी एक विचित्र बात होगी। इस पर्वत के उपरले शिखरों पर जंगली आमों का गहन वन है—आम्रकूट नाम ही इन आमों के कारण पड़ा है। इनके फल पककर पीले हो जाते हैं और झड़कर वहीं गिरते हैं। उतनी ऊँचाई पर उनका कदरदान भी कौन है! इन पीले आमों के कारण सारा शिखर-देश ऊपर से पाण्डुवर्ण का दिखायी देता है। सिद्ध और विद्याधर लोग ही ऊपर से इस पाण्डुर शोभा को देख सकते हैं। मर्त्यवासी उसका रंग क्या जानें? अब उस पाण्डुर शोभा के ऊपर काले मसृण मेघ के उतरने से अद्भुत शोभा निखर आयेगी। कौन देखेगा उस शोभा को? केवल सिद्धों के जोड़े—अमर-मिथुन! कैसी दिखेगी वह शोभा? जिसे मर्त्यवासी देख ही नहीं सकेंगे उसकी चर्चा भी क्या! लेकिन धरित्री के

उद्भिन्न-यौवन मोहन रूप की कल्पना तो की ही जा सकती है। मेघ भी देवयोनि के जीवों के समान ऊपर उड़कर चलता है—समझ तो लेगा ही। इसीलिए मेघ ने प्रेमपूर्ण शब्दों में उसे बता दिया कि कैसी शोभा का गौरव उसे मिलने जा रहा है।

> त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
> वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
> न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
> प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥ 17॥
> छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
> स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।
> नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्था
> मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥ 18॥

यक्ष क्षण-भर स्थिर रहकर व्याकुल भाव से सोचने लगा कि आम्रकूट पर्वत के वनचर-वधू-भुक्त निकुंजों में कुछ देर रुककर मेघ उड़ा जा रहा है—उसे याद आयी नर्मदा की हरहराती हुई धारा, जो आम्रकूट से छोटे-छोटे सैकड़ों सोतों के रूप में बही हुई है और विन्ध्याचल के ऊबड़-खाबड़ पथरीले—उपल-विषम—मार्ग में छितराकर बहती हुई ऊपर से ऐसी दिखायी दे रही है, जैसे विशालकाय हाथी की पीठ पर झालरदार डोरिया चादर बिछी हो! नर्मदा सचमुच शक्तिशालिनी नदी है। पर्वत-शिखरों को काटती हुई, जामुन के घने जंगलों को चीरकर हरहराती हुई वह अजीब मस्ती से बढ़ती है। हाथियों के तिक्त मद-जल से उसका जल सुवासित है, जामुनों की निरन्तर झड़ती हुई फलराशि से वह और भी मादक हो गयी है। मेघ जा रहा है, बरसता हुआ, गरजता हुआ, कड़कता हुआ। उसके मन में यक्षप्रिया तक शीघ्र पहुँच जाने की उतावली है। वह छककर नर्मदा का मद-जलसिक्त जम्बूफल-सुरसित पानी पी लेता है और आगे बढ़ता है—और भी, और भी तेज। ठीक भी तो है, अगर पानी पीकर मेघ भारी न हो ले, तो कौन जाने हवा का कौन-सा झोंका उसे किधर उड़ा ले जाय। जो खाली होता है, वह हल्का होता है; जो भरा होता है, वह भारी होता है!

स्थित्वा तस्मिन्वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्म तीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥ 19 ॥
तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥ 20 ॥

यक्ष कल्पना की आँखों से देख रहा है कि मेघ भी ठीक ही जा रहा है। रास्ता भूलने का प्रश्न ही नहीं है। अर्द्धोद्गत केसरों से हरित-कपिश बने हुए कदम्ब-कुसुमों को चाव के साथ निहारनेवाले भौंरे, कछारों में प्रथम मुकुलित कन्दली की मुलायम डोंभियों को सतृष्ण भाव से टूँगते हुए हिरन और दावाग्नि से झुलसी हुई वन-भूमि में प्रथम वृष्टि के कारण निकली हुई सोंधी गन्ध को सूँघकर मस्त बने हुए हाथी उसे राह बताते जा रहे हैं। वह बढ़ा जा रहा है, चिन्तित है, व्याकुल है, पर्वतों के कुटज-पुष्प से सुरभित शिखरों पर वह विश्राम अवश्य करता है, पर नाममात्र के लिए। वह तेजी से उड़ता जा रहा है—शुक्ल अपांगों और सजल नयनों से मयूर उसका स्वागत करते हैं, पर मेघ उनकी भी माया काट जाता है। वह और आगे बढ़ता है। जिधर जाता है उधर ही खेत लहलहा उठते हैं, उपवन चहक उठते हैं, जनमण्डली उल्लासचंचल हो उठती है। मेघ सबको तृप्त करके, सबको प्रसन्न करके आगे बढ़ता है। देखते-देखते दशार्ण देश आ जाता है। दशार्ण देश, जहाँ मेघ के निकट आते ही पुष्पवाटिकाओं के मेड़े में लगे हुए नुकीली बाल के समान पाण्डुर पुष्पोंवाले केवड़ों से वनभूमि पीली होकर चमक उठती है, पक्षियों के नीडारम्भ के उद्योग से गाँव के पेड़ चहचहा उठते हैं, और दूर देश से आते हुए हंस कुछ दिनों के लिए रुक जाते हैं। मेघ बढ़ा जा रहा है।

रामगिरि से दशार्ण तक मेघ लम्बी उड़ान भरता है। यक्ष सोचता है यों ही क्या यह दशार्ण को भी पार कर जायगा? विन्ध्याटवी की मस्तानी नदी वेत्रवती, जो चट्टानों को तोड़कर हहराती हुई बह रही है,

की चंचल तरंगें लीलावती की विलास-लीलाओं का अनुकरण करती हैं। क्या मेघ इस दीर्घ-विरहिना प्रिया को भी छोड़ जायेगा ? "ना मेरे दोस्त, यह गलती न करना। विदिशा (भेलसा) के पास इस अल्हड़ प्रेयसी को देखना तो जरा मृदु गर्जना कर देना, उसका चेहरा खिल जायेगा, उसकी लहरों में विभ्रमवती नायिका के भ्रुकुटितर्जन की-सी विलास-लीला खेल उठेगी। तुम झुकके उसका अधरामृत अवश्य पी लेना। ऐसी भी क्या जल्दी है ! विरह का मारा हूँ, तो क्या दूसरों की विरह-वेदना को समझने में भी गलती कर सकता हूँ ? विन्ध्य के उपल-विषम मार्ग में निरन्तर दौड़ती हुई, दूर तक फैले हुए वनफलों की झाड़ियों को दरेरती हुई, गिरती हुई, टूटती हुई, उठती हुई और फिर भी आगे बढ़ती हुई वेत्रवती की शोभा उपेक्षणीय नहीं है। हाय, वह कैसा सत्यानाशी प्रेम है, जो इस प्रकार कठोर साधना कराता है ! वहाँ तुम्हारी सारी सहृदयता को चुनौती मिलेगी। गलती न करना दोस्त !

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम् ।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम् ॥ 21 ॥
उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते ।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत् ॥ 22 ॥
पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै-
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
संपत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः ॥ 23 ॥

4

"देखो मित्र, दशार्ण देश जितना ही सुन्दर है, उतना ही शानदार भी। इसकी राजधानी विदिशा नगरी दिगन्त तक में ख्याति प्राप्त कर चुकी है।

उत्थान-पतन के बाद भी उसका पूर्वार्जित और अर्जित कीर्ति को ही नगरवासी अपना मानते आ रहे हैं। उनकी यह मान्यता उचित भी है। यवन-राज अन्तलिकित ने भी विदिशा का लोहा माना था। उसका राजदूत हेलिओडोरस जिस दिन गरुड़ध्वज के साथ प्रचुर उपहार लेकर राजाधिराज भागभद्र के दरबार में उपस्थित हुआ था उस दिन दशार्ण के जन-समुद्र में मानो ज्वार आ गया था। पौरजानपदों के उस उल्लास ने शुंग-सम्राटों की विराट् जय ध्वनि में मिलकर सिन्धु-तट के उस पार की यवन-वाहिनी को पर्दलित-कम्पित कर डाला था। विदिशा के विष्णुमंदिर में हेलिओडोरस द्वारा स्थापित गरुड़ध्वज आज भी दशार्णवासियों के चित्त में गर्व का संचार करता है। वेत्रवती और धसान नदियों के संगम पर दूर तक फैली हुई विदिशा नगरी चक्रवर्ती राजा के अभाव में भी राजधानी कहलाने का गौरव प्राप्त करती है। उसके एक-एक कण में दशार्ण का स्वाभिमान मुखर हो रहा है। वेत्रवती के तट पर दूर-दूर तक फैले हुए श्वेतप्रस्तर और नागरक-सौध आज भी विदिशा की कीर्ति देश-देशान्तर में फैलाते रहते हैं। विदिशा में श्री और समृद्धि तो आज भी है, किन्तु राजधानी न होने के कारण और बाहरी आक्रमण के आतंक से परित्राण पाने की चिन्ता न होने के कारण संयम नहीं रह गया है। यहाँ के लोगों में विलासिता तो बढ़ गयी है, लेकिन दशार्ण जनपद के सीधे-सादे और तेजस्वी जनपदवासियों के

[illegible] और [illegible] नहीं रह सकता है। फिर, तुम अनुराग हो विदिशा के गौरव और दशार्ण के आसपास ग्रामों में इस लि[illegible] जो विशाल [illegible] आ सकता है, इस समय [illegible] ते मुझे देख नहीं सकोगे। विदिशा में [illegible] विलासिता आ गई है, जो कामुकता की ही जननी रह है। विदिशा के अलौकिक सौन्दर्य का नहीं, कामुकता का प्रभाव पड़ा है। इसलिए विदिशा की हवा से बचना ही उचित है। दो-चार दिन से अधिक टिकना अच्छा नहीं। कुछ समय [illegible] रुकोगे तो, अगर वहीं के [illegible] रहे, तो बड़ा काम हो चुका! मैं पहले ही तुम्हें बताता हूँ कि दशार्ण देश में तुम थोड़े ही दिन रहना है। जो नीर-क्षीर का भेद जान सकता है, वह विदिशा के आसपास देर तक नहीं टिक सकता। तुम्हारे लिए भी प्रलोभन है। वेत्रवती की चपल तरंगें विलासवती नायिका के भ्रू-भंग की तरह तुम्हें अवश्य आकर्षित करेंगी। जिस समय तुम इस वेत्रवती के स्वादु जल का पान करोगे, उस समय निस्संदेह भ्रू-भंगविलास-दशा [illegible] हो नायिका के अधर-पान का सुख पाओगे। किन्तु मित्र, उलझना जाना। वेत्रवती के तट-प्रान्त पर तुम्हारा जो मन्द-मन्द गर्जन होगा, वह निस्संदेह उस नदी की चपल तरंगों में और भी चपलता ला देगा। तुम्हारा रूप नयन-सुभग है और तुम्हारा गर्जन कर्ण-सुभग। दोनों ही अनायास प्रेमिक जनों को इस प्रकार अकारण उत्सुक बना देते हैं, जिस प्रकार वसन्त-काल का पुष्पित सहकार भ्रमरावली को अनायास चपल और उत्कण्ठित बना देता है। तुम्हारे इस नयन-सुभग रूप और श्रवण-सुभग गर्जन का मोहक आकर्षण बचाकर निकल जाय, ऐसी तरुणी कहाँ मिलेगी? निस्सन्देह वेत्रवती के तरल-चंचल हृदय की उपेक्षा अनुचित होगी और तुम्हारे जैसे सहृदय से इसकी आशा भी नहीं करनी चाहिए। परन्तु फिर भी मित्र, ज्यादा न उलझना। आखिर 'वेत्रवती' प्रिया से सावधान न रहोगे, तो किस दिन क्या आ बीते कौन कह सकता है? इसीलिए थोड़ा-सा रुककर और थोड़ा-सा झुककर उस बिब्बोकवती के 'सभ्रूभंग' मुख का रस लेकर आगे बढ़ जाना।

तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।

तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि स्वादु यस्मा-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि ॥ 24 ॥

"विश्राम ही करना हो, तो तुम्हें जगह बताये देता हूँ। लेकिन विदिशा में तो हर्गिज़ न रुकना। अपने सरस हृदय का दुरुपयोग न कर बैठना।

"इस विदिशा नगरी के समीप ही निचली पहाड़ी नाम की एक छोटी-सी पहाड़ी है। केवल नाम से नीची नहीं है, आजकल काम से भी नीची हो गयी है। जिन दिनों विदिशा अपने असह्य प्रताप के तेज से सिन्धु-पार के दुर्दान्त नरपतियों को म्लान और दग्ध बनाया करती थी, उन दिनों निचली पहाड़ी सम्भ्रान्त नागर-जनों के मन-बहलाव और सरस्वती-विहार का काम करती थी। देश-देशान्तर से आये हुए गुणी-जन इस पहाड़ की छोटी-छोटी सजायी हुई कन्दराओं में, शिलावेश्मों में निवास करते थे, शास्त्रार्थ-विचार, काव्य-गोष्ठी, अक्षर-च्युतक, बिन्दुमती, प्रहेलिका आदि मनोविनोदों के साथ-साथ लाव, तित्तिर और मेष के युद्ध का आयोजन होता था। मल्ल-विद्या और शस्त्र-प्रतियोगिता का आह्वान होता था, पटह-निनाद के साथ कांस्य-कोशी और झर्झर यन्त्रों की मादक ध्वनि में व्यायाम-कौशल का प्रदर्शन होता था, और अनेक करणों और अंगहारों के सूक्ष्म अभिनयों से नागर-जनों की शूरता और सुकुमारता की परीक्षा होती थी। उन दिनों निचली पहाड़ियों में आयोजित उत्सवों और शोभा-यात्राओं में दशार्ण की जनता बलदृप्त पौरुष के गौरव से अभिभूत हो जाती थी। आज अवस्था बदल गयी है। निचली पहाड़ी की प्राकृतिक शोभा आज भी ज्यों-की-त्यों है। दूर तक फैली हुई कदम्ब और कुटज की पंक्तियाँ, वन-पवन और बदरी-गुल्मों की छोटी-छोटी झाड़ियाँ और अयत्नवर्धित करवीर, कोविदार और आरग्वध वृक्षों की उलझी हुई अरण्यानी निचली पहाड़ी की नयनाभिराम शोभा को आज भी समृद्ध कर रही है। यद्यपि आज प्रशस्त वीथियों पर जंगली पौधे उग आये हैं और सरस्वती-विहार के प्रांगण में वन्य-बदरियों के झाड़ खड़े हो गये हैं, तथापि निचली पहाड़ी की कन्दराएँ आज भी जगमगाती रहती हैं। अब वे गुणियों का आश्रयस्थल न रहकर मनचले नागरिकों के प्रच्छन्न विलास की

[illegible]-पुलकित बन गयी है। इन कन्दराओं का मामला भी विचित्र है, वे मात्र मदिर-मत्त नागरकों और पण्य-स्त्रियों के उद्दाम विलास की गवाही देती रहती हैं। यही वे कन्दराएँ उन्मुक्त रति-विलासिता के लिए उपयोग में आनेवाली मादक हाला की गन्ध उगलती रहती हैं। यह पण्य-विलासिनियों के मद-मत्त-विलास अंगराग के उत्कट परिमल से और भी विलक्षणी हो उठती है। मित्र, मैं जब कन्दराओं या शिलावेश्मों को परिमलोद्गारि (गन्ध को उगलनेवाला) कहता हूँ, तो कवियों की तरह आलंकारिक भाषा का प्रयोग नहीं करता। इन्हें सचमुच ही वमन करनेवाला मानता हूँ। जिस प्रेम में केवल विलासिता और नग्न कामुकता का ही बोलबाला हो, वह अवश्य मनोदशा की ही उपज है। उसमें प्रयुक्त होनेवाले समस्त नीतिविरुद्ध द्रव्य मानव-चित्त के मधुर विचारों से भिन्न होकर विकृत हो जाते हैं। निचली पहाड़ी में विलास की नग्न कामवासना उन्मुक्त नृत्य करती है। मनुष्य के भीतर विधाता ने जिन अद्भुत गुणोंवाले यौवन को प्रतिष्ठित किया है, जो चित्त में अपूर्व औदार्य और आत्मदान का सामर्थ्य उद्बुद्ध करता रहता है, उसे निचली पहाड़ी की कन्दराओं में पानी की तरह बहाया जा रहा है। मेरे सहृदय मित्र, वेत्रवती का रसपान करके तुम जब निचली पहाड़ी के ऊपर से उड़ोगे, तो यह देखकर प्रसन्न होगे कि पवन ने तुम्हारे आगमन का सन्देशा पहले से ही वहाँ पहुँचा रखा है और कदम्ब के फूलों से वनस्थली नीचे से ऊपर तक लहक उठी है। तुम देखोगे कि तुम्हारे सम्पर्क से इन उद्गत-केसर कदम्बपुष्पों के रूप में वनस्थली ही रोमांचित हो उठी है। आगमिष्यत्पतिका सुन्दरी की भाँति इस प्रतीक्षा-कातरा वनस्थली को देखकर निस्सन्देह तुम भी रोमाचकण्टकित हो उठोगे। परन्तु हवा के झोंकों के साथ ऊपर उठी हुई परिमलोद्गार की भभक तुम्हें व्याकुल भी करेगी। एक तरफ वनस्थली का निसर्गसुकुमार प्रेम और दूसरी तरफ प्रच्छन्न कामुकों के कृत्रिम विलास से तुम्हारी मनोदशा विचित्र हो उठेगी। मैं कहता हूँ मित्र, तुम नीचे उतर आना, कदम्बों की मूक अभ्यर्थना से तुम पुलकित होओगे और पण्य विलासिनियों के परिमलोद्गार की भभक से तुम्हारी रक्षा होगी। शिलावेश्मों के उद्दाम यौवन-विलास से निचली पहाड़ी सचमुच 'निचली' हो

वे इतना कमा लेती हैं कि किसी प्रकार उनकी जीवन-यात्रा चल सके। परन्तु तुमको यही सात्विक सौन्दर्य के दर्शन होंगे । उनके दीप्त मुखमण्डल पर शालीनता का तेज देखोगे; उनकी भ्रू-भंगविलास से अपरिचित आँखो मे सच्ची लज्जा के भार का दर्शन पाओगे और उनके उत्फुल्ल अधरो पर स्थिर भाव से विराजमान पवित्र स्मित-रेखा को देखकर तुम समझ सकोगे कि 'शुचि-स्मिता' किसे कहते है । इस पवित्र सौन्दर्य को देखकर तुम निचली पहाड़ी की उद्दाम और उन्मत्त विलास-लीला को भूल जाओगे। वहाँ तुम संचय का विकार देखोगे और यहाँ आत्मदान का सहज रूप । तुम स्वयं आत्मदानी हो; तुम जो-कुछ भी सचय करते हो, दोनो हाथो से लुटाते जाते हो। लुटाये जाओ मित्र, यही जीवन की सार्थकता है। वन मे और नदी-तीर पर उत्पन्न उद्यानो के यूथिका-जाल को भी जल-कणो से सिंचित करना और कुछ देर के लिए 'पुष्पलावियो' के क्लान्त मुखो को अपनी शीतल छाया से स्निग्ध करना भी न भूलना । तुम्हारी ठण्डी छाया के पड़ते ही वे क्षण-भर के लिए तुम्हारी ओर देखेंगी और तुम धन्य हो जाओगे । कहाँ मिलती है मित्र, पवित्र आँखो की आनन्दस्निग्ध दृष्टि ! यह क्षण-भर का परिचय तुम्हारे लिए बहुत बड़ी निधि होगा। इसलिए कहता हूँ कि स्वेदधारा के ससर्श से मलिन कर्णोत्पलवाले पवित्र मुखो को छाया देना न भूलना ! यद्यपि यह परिचय तुम्हारा क्षणिक ही होगा, लेकिन इस एक क्षण का भी बड़ा महत्त्व है ।

"कहते हैं, एक बार देवराज इन्द्र को भी इस पवित्र दृष्टि का आश्रय लेना पड़ा था । कहा जाता है कि दक्ष-यज्ञ में देवराज ने ऋषि-पत्नियों को कुदृष्टि से देखा था । ऋषियों के शाप से उनका शरीर विकृत हो गया, और स्वर्गलोक की राजलक्ष्मी स्वर्ग छोड़कर अन्यत्र चलने को प्रस्तुत हो गयी । बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को इसका कारण बताया और कहा, 'तुम मर्त्यलोक मे भ्रमण करो, यदि किसी पतिव्रता की दृष्टि तुम पर पड़ जायेगी, तो तुम्हारा शरीर और मन निष्कलुष हो जायेगा, और राजलक्ष्मी लौट जायेगी ।' देवताओं के राजा इन्द्र मर्त्यलोक भ्रमण करते रहे, पर वांछित सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त हुआ । अन्त मे उन्होंने मेघ को वाहन बनाया और इन्हीं क्षेत्रों मे जिन दिनो उड़ रहे थे, उन्हीं दिनों किसी श्रमशालिनी

पतिव्रता पुण्यलावी की दृष्टि उनके ऊपर पडी और उनके सारे कलुष धुल गये।

> विश्रान्त गन्नज वननदीतीरजालानि सिञ्च-
> न्नुद्यानानां नवजलवर्णैर्यूथिकाजालकानि।
> गण्डस्वेदापनयनरजावलान्तकर्णोत्पलाना
> छायादानात्क्षणपरिचित पुण्यलावीमुखानाम् ॥ 26 ॥

"मित्र मेरी अभिलाषा है कि तुम उज्जयिनी होते हुए जाओ। रास्ता टेढा अवश्य है, उत्तर की ओर जाने के लिए तुम चाहो तो सीधे उडकर जा सकते हो, परन्तु तुम उज्जयिनी को न छोडना। रास्ता टेढा है तो क्या हुआ? महान् उद्देश्यों के लिए थोडी कठिनाई भी आ जाये, तो हिचकना नही चाहिए। यह उज्जयिनी बडी महिमामयी नगरी है। पुराकाल मे ब्रह्मा से वरदान प्राप्त कर त्रिपुर नामक महाअसुर ऐसा दुर्दान्त हो गया था कि समस्त यज्ञ-याग बन्द हो गये थे और देवता लोग त्राहि-त्राहि कर उठे थे। उस समय उज्जयिनी के समीपवर्ती महाकाल-वन मे देवता और शास्त्रों की रक्षा के लिए भगवान् शकर ने कठोर तपश्चर्या से देवी को प्रसन्न करके महापाशुपत अस्त्र प्राप्त किया था, जिससे उन्होने त्रिपुर को तीन खण्डो मे विध्वस करने का सामर्थ्य पाया था। इसी जीत के कारण इस पुरी का नाम उज्जयिनी पडा। यह वह पुरी है जिसमे देवी ने शिव को अपने कृपा-कटाक्ष के प्रसाद से शक्तिशाली बनाया था। उज्जयिनी वस्तुत. प्रसन्न-रूपा देवी की ही छाया है। उत्तर-दिशा को जाने के लिए उज्जयिनी होते हुए जाना उचित ही है। तुम जिस 'उत्तर' दिशा मे प्रस्थान कर रहे हो, उसमे पर्वत-कन्या के रूप मे देवी ने शिव का प्रसाद पाना चाहा था।

"वहाँ देवी की तपस्या से शिव प्रसन्न हुए थे। परन्तु उज्जयिनी की कहानी बिल्कुल उलटी है। शिव ने तो देवी की तपस्या से प्रसन्न होकर पुष्पधन्वा देवता को भस्म किया था, परन्तु देवी की प्रसन्नता से शिव को जो महास्त्र प्राप्त हुआ, उससे उन्होने त्रैलोक्य-कण्टक महाअसुर का विनाश किया था। दोनो प्रसादों का अन्तर तुम सहज ही समझ सकते हो। त्रिपुर-सुन्दरी का प्रसन्न-दक्षिण मुख कल्याणकारिणी तेजोराशि को निरन्तर

शक्ति-सम्पन्न किया करता है। विरहाग्नि की आँच से झुलसा हुआ मेरा हृदय आज व्याकुल-भाव से इस सत्य की उपलब्धि कर रहा है।

"शिव का शक्ति को प्रसन्न करना टेढ़ा मार्ग है। निस्सन्देह वह टेढ़ा है। प्रत्येक पिण्ड में शक्ति शिव को और शिव शक्ति को प्रसन्न करने के लिए तपोनिरत हैं। मैं मानता हूँ मित्र, कि अन्तरतर मे जो ज्वाला जल रही है, वह विराट् विश्व में व्याप्त शिव और शक्ति की अनादि-अनन्त लीला से भिन्न नही है। वही विराट् लीला कण-कण में, रूप-रूप मे स्फुरित हो रही है। मनुष्य-शरीर मे षट्चक्रो को भेदकर जो शक्ति का 'उत्जयन' है अर्थात् जो ऊपर की ओर जीतने की अभिलाषा से गमन है, वह भी टेढ़ा है। पिण्डवासिनी देवी 'षट्चक्रवक्रासना' है। 'उज्जयिनी' उसी ऊर्ध्व-गामिनी अभिसार-यात्रा का प्रतीक है। योगी केवल एकमुख अभिसार की ही बात जानता है। परन्तु यह खण्ड-सत्य है सखे! उज्जयिनी का इतिहास बताता है कि शिव भी देवी का हृदय जय करने के लिए उतने ही उत्सुक और उतने ही चंचल है। जिस प्रकार नीचे से ऊपर की ओर अभिसार-यात्रा की चेष्टा चल रही है, उसी प्रकार ऊपर से नीचे की ओर भी अवतरण हो रहा है। योगी एक ही को देख पाता है, भक्त दोनों को देखता है। इसी वक्रता में सहज भाव है। सहज बनने के लिए कठिन आयास करना पड़ता है मित्र! सीधी लकीर खीचना सचमुच टेढ़ा काम है। इसीलिए कहता हूँ, रास्ता टेढ़ा है तो होने दो, लेकिन उज्जयिनी जाओ अवश्य। उज्जयिनी के ऊँचे-ऊँचे महलों के कँगूरो से टकराने मे तुम्हें रस मिलेगा। किसी ज़माने मे नगर के बड़े-बड़े रईसो के मकान सुधा-चूर्ण यानी चूने से पोते जाते थे, इसीलिए उन्हे 'सौध' कहा जाता था। उन दिनो ये श्वेत भवन दिन मे सूर्य की किरणो से चमककर और रात मे चन्द्रिका की धवल धारा मे स्नान कर दूर से ही दिखायी देते थे। परन्तु उज्जयिनी मे आजकल सुधा-चूर्ण से पुते हुए भवनो का कोई महत्त्व नही रह गया है। एक-दो हो, तो दूर से देखने-दिखाने का प्रयास किया जाय। वहाँ तो सैकड़ो भवन हैं, एक-से-एक विशाल! शाल और अर्जुन के वृक्ष इस उज्जयिनी को घेरकर दूर तक इस प्रकार शोभित हो रहे हैं, जैसे श्वेत चादर ओढ़े हुए शाल-प्रांशु सैनिक खड़े हों। तिलक, अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग और वकुल वृक्षो की घनच्छाया-

इसलिए उज्जयिनी के चारों ओर दिन में भी रात्रि की शोभा उत्पन्न करती रहती है।

"उज्जयिनी के ऊपर उड़ोगे, तो तुम्हें सावधान होकर उड़ना होगा। ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से टकरा जाने की आशंका पद-पद पर रहेगी, परन्तु वृक्षों की चोटी अगर बचा भी जाओ, तो भी उज्जयिनी के उन रंगीन महलों के कँगूरों से बच नहीं पाओगे। अब भी लोग शिष्टाचारवश इन गगनचुम्बी रंगीन अट्टालिकाओं को 'सौध' ही कहते रहे हैं, परन्तु विदिशा के सौधों को देखकर उनकी ऊँचाई के बारे में गलत धारणा न बना लेना। तुम्हें टकराना तो पड़ेगा ही। लेकिन बुरा क्या है? उज्जयिनी के सौध भी प्रेम की मर्यादा समझते हैं। तुम्हारे जैसे सहृदयों के लिए उनकी गोद खुली हुई है। वे अपनी विशाल ऊर्ध्वगामी भुजाओं से तुम्हें चिर-परिचित प्रेमी की तरह गले लगायेंगे। इसीलिए इन विशाल सौधों के ऊपरी हिस्से को उत्संग समझकर तुम प्रीतिपूर्वक विश्राम करना। इनके उत्संग के प्रणय से तुम विमुख मत हो जाना। फिर एक बड़ा लाभ भी है। तुम्हारे हृदय में निरन्तर विराजमान जो विद्युत्प्रिया है वह इन सौधों से टकराने पर अवश्य चमक उठेगी। उस समय विद्युत् की चमक से उज्जयिनी नगरी की सुन्दरियाँ त्रस्त-चकित होकर तुम्हारी ओर चपल कटाक्ष निक्षेप करेंगी। मैं कहता हूँ दोस्त, इन चपल कटाक्षों का रस यदि तुम नहीं ले सके, यदि उसमें तुम रम नहीं सके, तो तुम्हारा जनम अकारथ है। तुम सचमुच ही वंचित रह जाओगे। एक क्षण के लिए सोचो तो भला, देवी के कृपा-कटाक्षों से संसार कितने बड़े अनर्थ से निवृत्ति पा सका था। उज्जयिनी की पौर-ललनाओं की दृष्टि में त्रिपुर-सुन्दरी के उसी प्रसन्न कृपा-कटाक्ष की छाया है। विपुल ब्रह्माण्ड में व्याप्त त्रिपुर-सुन्दरी का त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप उज्जयिनी की पौर-ललनाओं में नहीं देख सके, तो कहाँ देखोगे? इसीलिए मेरा प्रस्ताव है कि कठिनाई की चिन्ता किये बिना तुम उज्जयिनी अवश्य जाओ, और वहाँ के विशाल भवनों के उत्संग में बैठकर उज्जयिनी की पौर-ललनाओं के लीला-कटाक्ष का रस अवश्य अनुभव करो।

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्सङ्गप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।

देवागी का विरह-जनित कृशत्व दूर करना।

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
> संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
> निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
> स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ 28 ॥
> वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः
> पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः
> सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
> कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ 29 ॥

5

"इसके बाद अवन्तिका। निर्विन्ध्या नदी को सुख देकर तुम अवन्ति-जनपद में उपस्थित होंगे। उस अवन्ति-देश में उपस्थित होंगे, जिसके गाँव के बड़े-बूढ़े आज भी उदयन और वासवदत्ता की कहानियाँ सुनाया करते हैं। इस

बेचारी का विरह-दौर्बल्य दूर करना।

> वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
> संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः ।
> निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
> स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ 28 ॥
> वेणीभूतप्रतनुसलिला तामतीतस्य सिन्धुः
> पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः
> सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
> कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥ 29 ॥

5

"इसके बाद अवन्तिका। निर्विन्ध्या नदी को सुख देकर तुम अवन्ति-जनपद में उपस्थित होंगे। उस अवन्ति-देश में उपस्थित होंगे, जिसके गाँव के बड़े-बूढ़े आज भी उदयन और वासवदत्ता की कहानियाँ सुनाया करते हैं। इस

व्यक्तियों की सिद्धि है, तो उज्जयिनी वर्तमान मनुष्यों की साधना-भूमि है। मेघ यदि उज्जयिनी होते हुए जायेगा, तो अलका का संक्षिप्त रूप देख लेगा, और उन समस्त विलासों से परिचित हो जायेगा, जो पुण्यपुर के भोक्ताओं को अनायास प्राप्त हो जाते हैं। उज्जयिनी में शिप्रा की लोल तरंगों से सिक्त प्रत्यूषकालीन वायु रतमविनोदन का सामर्थ्य भर देती है, जिस प्रकार अलका में मन्दाकिनी के निर्झर-सीकरों से शीतल बनी प्राभातिक वायु। एक क्षण के लिए यक्ष के शरीर में पुलक-कम्प का अनुभव हुआ। उसे वे सौभाग्यवती रात्रियाँ स्मरण हो आयीं, जिनमें प्रियासहचर होकर उसने प्रणय-सुख का अनुभव किया था। उसे याद आया कि सारी रात के जागरखेद को निर्झर-सीकरों से सिक्त प्राभातिक वायु किस प्रकार अपनोदन कर दिया करती थी, और अशिथिल परिरम्भ-क्रिया द्वारा आयोजित नवाहन सुख को किस प्रकार आनन्दसमुज्जवल बना दिया करती थी। उसने कल्पना की दृष्टि से शिप्रा की तरंगों से धौत मन्द-मन्द-सचारी प्रत्यूषकालिक प्राभातिक वायु में यह क्लान्तिहर भाव देखा। उसने कल्पना की आँखों से देखा कि प्रभातकाल में शिप्रा के तटों पर सारसगण उन्मत्त कूजन से तट-प्रदेश को मुखरित किये हुए हैं और प्राभातिक वायु उनकी इस आनन्द-ध्वनि को उज्जयिनी के सौध-वातायनों के मार्ग से घसीटती हुई नागरजनों के विश्रामकक्ष तक पहुँचा रही है। यक्ष ने उन्मत्त भाव से अनुभव किया कि यह वायु का झोंका, जो सारसों के आनन्दकूजन को वहन करके रसिक दम्पतियों के विश्राम-कक्ष तक पहुँचा रहा है, खुशामदी प्रियतम से किसी अंश में कम नहीं है। आखिर चाटुकारिता में लीन प्रियतम भी तो अर्थहीन बातों से ही प्रिया की अंग-ग्लानि को दूर करना चाहता है। दोनों में अन्तर ही क्या है? फिर प्रातःकालीन विकसित कमलों की सुगन्धि से यह वायु उसी प्रकार भिदी होती रहती होगी, जिस प्रकार प्रियतम का शरीर आश्लेषलग्न विभिन्न अंगरागों से गन्धमय हुआ रहता है। क्षण-भर में यक्ष की आँखों के सामने पुरानी अनुभूतियाँ साकार हो गयीं। वायु तो कोई जीवन्त प्राणी नहीं है। उसमें भिदी हुई सुगन्ध और बँधी हुई आनन्द-ध्वनि में प्रियतम की प्रार्थना-चाटुकारिता का आरोप कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के अपने ही चित्त में जो राग है, जो उत्कण्ठा है, उसी को वह

कल्पितों की सिद्धि है, जो उज्जयिनी वर्तमान मनुष्यों की साधना-भूमि है। मेघ यदि उज्जयिनी होते हुए जायेगा, तो अलका का संक्षिप्त रूप देख लेगा, और उन समस्त विभवों से परिचित हो जायेगा, जो पुण्यपुर के भोक्ताओं को अनायास प्राप्त हो जाते हैं। उज्जयिनी में शिप्रा की लोल तरंगों से सिक्त प्रत्यूषकालीन वायु अंगग्लानिविनोदन का सामर्थ्य भर देती है, जिस प्रकार अलका में मन्दाकिनी के निर्झर-सीकरों से शीतल बनी प्राभातिक वायु। एक क्षण के लिए यक्ष के शरीर में पुलक-कम्प का अनुभव हुआ। उसे वे सौभाग्यवती रात्रियाँ स्मरण हो आयीं, जिनमें प्रियासहचर होकर उसने प्रणय-सुख का अनुभव किया था। उसे याद आया कि सारी रात के जागरखेद को निर्झर-सीकरों से सिक्त प्राभातिक वायु किस प्रकार अपनोदन कर दिया करती थी, और अशिथिल परिरम्भ-क्रिया द्वारा आयोजित संवाहन सुख को किस प्रकार आनन्दसमुज्ज्वल बना दिया करती थी। उसने कल्पना की दृष्टि से शिप्रा की तरंगों से धौत मन्द-मन्द-सञ्चारी प्रत्यूषकालिक प्राभातिक वायु में यह चाटुकार भाव देखा। उसने कल्पना की आँखों से देखा कि प्रभातकाल में शिप्रा के तटों पर सारसगण उन्मत्त कूजन से तट-प्रदेश को मुखरित किये हुए हैं और प्राभातिक वायु उनकी इस आनन्द-ध्वनि को उज्जयिनी के सौध-वातायनों के मार्ग से घसीटती हुई नागरजनों के विश्रामकक्ष तक पहुँचा रही है। यक्ष ने उन्मत्त भाव से अनुभव किया कि यह वायु का शोषा, जो सारसों के आनन्दकूजन को वहन करके रसिक दम्पतियों के विश्राम-कक्ष तक पहुँचा रहा है, खुशामदी प्रियतम से किसी अंश में कम नहीं है। आखिर चाटुकारिता में लीन प्रियतम भी तो अर्थहीन बातों से ही प्रिया की अंग-ग्लानि को दूर करना चाहता है। दोनों में अन्तर ही क्या है? फिर प्रातःकालीन विकसित कमलों की सुगन्धि से यह वायु उसी प्रकार भिदी होती रहती होगी, जिस प्रकार प्रियतम का शरीर आश्लेषलग्न विभिन्न अंगरागों से गन्धमय हुआ रहता है। क्षण-भर में यक्ष की आँखों के सामने पुरानी अनुभूतियाँ साकार हो गयीं। वायु तो कोई जीवन्त प्राणी नहीं है। उसमें भिदी हुई सुगन्ध और बँधी हुई आनन्द-ध्वनि में प्रियतम की प्रार्थना-चाटुकारिता का आरोप कैसे किया जा सकता है? मनुष्य के अपने ही चित्त में जो राग है, जो उत्कण्ठा है, उसी को वह

स्नात वायु का ही स्मरण किया और उस वायु के बहाने अपने ही चित्त की प्रकृति उतारकर रख दी। हाय-हाय, प्रार्थना-चाटुकार शिप्रा-वात की कल्पना कितनी हृदय-वेधक थी!

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकल कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः ।
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूल
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ 31 ॥

यक्ष ने कहा, "देखो मित्र! उज्जयिनी की ललनाएँ अपने नितान्त 'घन-नील-विकुञ्चिताग्र' घुंघराली लटों में सुगन्धि लाने का प्रयत्न बराबर करती रहती हैं। इस देश में हेमन्त और शिशिर में दीर्घकाल तक सुगन्धित धूप से धूपित करके केशों में स्थायी रूप से सुगन्धि उत्पन्न करने की जो भोंडी प्रथा चल गयी है, वह उज्जयिनी की सुरुचि-सम्पन्न तरुणियों को मान्य नहीं है। वे हल्की सुगन्धिवाले सौगन्धिक द्रव्यों से प्रत्येक ऋतु में केश-संस्कार कर लिया करती हैं। यद्यपि वर्षा-काल में आमोद-मदिर पुष्प-गुच्छ और नयनाभिराम मालती-दाम केशों को सुगन्धि देने के लिए पर्याप्त होते हैं, तथापि आषाढ़ के इस प्रथम आविर्भाव-काल में स्वभाव-चतुर सुन्दरियाँ तुम्हारे अनिश्चित आगमन की प्रत्याशा में केश-संस्कार को समयापन्न नहीं करना चाहती। उज्जयिनी के सौधों में केश-संस्कार के लिए जलाये गये हल्की सुगन्धिवाले धूप-धूम की धूम अवश्य मची होगी। शिप्रा के तट-प्रान्त को घेरकर जो विशाल भवन खड़े हुए हैं, उनके अवरोधगृह जालीदार पत्थरों के गवाक्षों से सुशोभित हैं। इन्हीं प्रासाद-जालों से 'जल-केलिरम्या' शिप्रा की शोभा नित्य पुर-सुन्दरियों की आँखों में अभिलाष-चंचल भाव उत्पन्न करती है। जब तुम शिप्रा के ऊपर से उड़ते हुए पुरी में प्रवेश करोगे, तो सबसे पहले गवाक्ष-जालों से निकलती हुई धूप-धूम की रेखा तुम्हारा स्वागत करेगी। निःसन्देह इससे तुम्हारा शरीर पुष्ट होगा। बड़भागी हो मित्र, जो पुर-सुन्दरियों के विलास-हाथों में आयोजित धूप-धूम का उद्ग्रहण अरु पा सकोगे! उस धूम के साथ न जाने कितनी आकांक्षाएँ और कितनी लालसाएँ गवाक्ष-जालों के मार्ग से निकल रही होंगी। उनका स्पर्श पाकर तुममें भी नवीन उल्लास का

संचार होगा। फिर तुम्हारे मित्र और प्रेमिक मयूर, जो इन विराट् भवनों में क्रीडा-पर्वतों पर विचरण कर रहे होंगे और जिनके लिए सुवर्णमयी वास-यष्टि का निर्माण किया गया होगा, तुम्हें देखकर नाच उठेंगे। नगरी में प्रवेश करो। मगर यहाँ नृत्य तुम्हारे लिए प्रेमोपहार का काम करेगा। उज्जयिनी के प्रासादों में एक भी ऐसा नहीं है, जिसमें भवन-दीर्घिका, वृक्ष-वाटिका और क्रीडा-पर्वत न हो और एक भी ऐसी वृक्ष-वाटिका नहीं है, जिसमें चम्पक, सिन्धुवार, बकुल, पाटल, पुन्नाग और सहकार के घनच्छाय वृक्ष न हों और जिसके अन्तःपुर में सटी हुई पुष्पवाटिका में मल्लिका, जाती, नव-मालिका, कुरण्टक, कुब्जक और दमनक लताओं की शोभा न दिखायी देती हो। उज्जयिनी के बड़े-बड़े भवन हर्म्य कहलाते हैं। एक जमाना था, जब नगरी के मध्यभाग में बसनेवाले रईस छोटे-छोटे बन्द कक्षवाले महलों का निर्माण करते थे। उनका प्रधान उद्देश्य अर्जित सम्पत्ति की सुरक्षा होता था। उनके घरों में सूर्य की किरणों का प्रवेश भी नहीं हो पाता था। इसीलिए वे मकानों को ऊँचा बनाते थे, ताकि ऊँचाई पर बने हुए कक्षों में कुछ घर्म या घाम आ जाय। जो जितना ही धनी होता था, वह उतना ही ऊँचा कक्ष बनवा लेता था। जो कम धनी होता था, उसका मकान सूर्य की किरणों से वंचित ही रह जाता था। यही कारण है कि उन ऊँचे मकानों को 'घर्म्य' कहा करते थे, अर्थात् जिनमें सूर्य की रोशनी पहुँच जाया करती थी। जनता में यही घर्म्य शब्द घिसकर 'हर्म्य' बन गया। किन्तु उज्जयिनी के नागरिक जनों में बन्द कक्षवाले भवनों का अब विशेष सम्मान नहीं रह गया है। उज्जयिनी के वीरों का बाहु-बल अब निर्विवाद रूप में 'गोप्ता' अर्थात् रक्षक के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। महाप्रतापी गुप्त नरपतियों ने जनता के भीतर विश्वास का संचार किया है, इसीलिए सिप्रा को घेरकर दूर-दूर तक विशाल प्रासाद बने हुए हैं, जो केवल सुन्दरियों की घुँघराली लटों को सुगन्धित करनेवाले धूप-धूम से ही नहीं, बल्कि उनके सुकुमार कर-पल्लवों से ललित पुष्प-लताओं से भी सुवासित रहते हैं। मैं इन विशाल हर्म्यों को 'कुसुम-सुरभि' कहना अधिक पसन्द करूँगा। ऐसी कोई भी ऋतु नहीं है, जिसमें कोई-न-कोई पुष्प इन पुष्पोद्यानों में न खिलते रहते हों।

पदरागाङ्कित हर्म्यों में तुम्हें सच्ची शान्ति प्राप्त होगी।

> जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपै-
> र्बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः ।
> हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथा
> लक्ष्मीं पश्यँल्ललितवनितापादरागाङ्कितेषु ॥ 32 ॥

"लेकिन मार्ग की क्लान्ति दूर करने के बहाने कहीं अटक न जाना। तुम्हें पहले ही बताया है कि उज्जयिनी महाकालदेवता की लीलाभूमि है, यह त्रिभुवन-गुरु भगवान् चण्डीश्वर महादेव की तपस्या-भूमि है। 'चण्डीश्वर' नाम सार्थक है, मित्र! सहज कोमल-स्वभावा देवी महादेव की तपस्या से यहाँ प्रसन्न हुई थी। दीर्घकाल तक उनकी बंकिम भ्रुकुटियों में ऋजुता नहीं आयी, कुंचित ललाट-पट पर सहज भाव नहीं आया और उत्क्षिप्त हृदय में अनुकूल भावों का संचार नहीं हुआ। यह जो वक्ररूपा चण्डिका देवी है, वे समष्टि में व्याप्त स्पन्दहीन शिव की क्रिया-शक्ति के प्रथम उन्मेष का रूप है। व्यष्टि में भी जब भगवती परावाक् स्पन्दहीन परम शिव की क्रिया के रूप में प्रथम बार स्पन्दित होती है, तो 'पश्यन्ती' वाणी के रूप में 'अंकुशरूपा' होकर व्यक्त होती है। यही पराशक्ति का वक्रा, वामा या चण्डी-रूप है। पिण्ड में पश्यन्ती वाणी के रूप में व्यक्त यह सृष्टि के रूप में व्यक्त होती है। जब यह मध्यमा वाणी के रूप में ऋजुता प्राप्त करती है, तो 'ऋजुरूपधरा

दण्डरूपा' भगवती के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त पराशक्ति जब वक्ररूपा 'वामा' शक्ति के रूप में उल्लसित होती हैं, तो वह वेग बड़ा प्रचण्ड होता है। उसी स्पन्दन के उद्दाम वेग से अनन्त आकाश में व्याप्त शून्य सिहर उठता है और बार-बार प्रचण्ड आघात खाकर वस्तुपुञ्ज-रूपी फेन-रूप में सिमटने लगता है। जिस प्रकार स्वर्गलोक से सहस्रधार होकर गिरती हुई जाह्नवी की धारा को महाकाल अपने जटाजूट में धारण करके रिझाते हैं, उसी प्रकार इस चण्डवेगा वामा-शक्ति को शिव अपने जटा-जाल में उलझाना चाहते हैं। मित्र, जब-जब मैं अपनी सीमित दृष्टि से पराशक्ति के उस चण्ड वेग की कल्पना करता हूँ, तब-तब भय और त्रास से मेरा चित्त विदीर्ण हो उठता है, सारे शरीर में कम्प आ जाता है। कौन है, जो इस वक्ररूपा महाचण्डिका को प्रसन्न कर सकता है? कौन है, जो उनकी कुंचित भृकुटियों में सहज लीला का उद्रेक करा सकता है? कौन है, जो उनके रोष-कापायित नयनकोणों में व्रीडा का भाव संचारित कर सकता है? एकमात्र महाकालदेवता! मुझे देवी के 'पश्यन्ती' रूप में और सहस्रधार जाह्नवी के 'अवपतन्ती' रूप में अद्भुत साम्य दिखता है। समस्त लोक के कल्याण के लिए महाकाल ने देवी को प्रसन्न करने का व्रत लिया और चण्डीश्वर होने का गौरव प्राप्त किया। भगवान् चण्डीश्वर निरन्तर संसार-सागर के मन्थन और आलो-डन से स्वतः आविर्भूत विष का पान करते चले आ रहे हैं। इसीलिए वे त्रिभुवन-गुरु हैं। महाकाल के सिवा दूसरा कौन है, जो संसार-सागर से निरन्तर उद्भूत होनेवाले विष को पीता रहे और प्रजा को कल्याण-मार्ग की ओर अग्रसर करता रहे? एक ओर जहाँ वे त्रिभुवन-गुरु हैं, समस्त जगत् को अपने शान्तिमय क्रोड में आश्रय दे रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वे चण्डीश्वर भी हैं। पराशक्ति के उद्दाम वेग को उन्होंने ही वश में कर रखा है। मेरे मित्र! महादेव के गण जब तुम्हें देखेंगे, तो यह समझकर कि उनके स्वामी के नीले कण्ठ की तरह तुम्हारा रंग है, तुम्हारा बड़ा आदर करेंगे। मेरा अनुमान है कि भगवान् महाकाल के दर्शन तुम्हें अनायास प्राप्त हो जायेंगे। उज्जयिनी में हर्म्य-शिखरों पर थोड़ी देर के लिए विश्राम करके तुरन्त महाकालदेवता के दर्शन के लिए चल देना। 'पूज्य-पूजा-

व्यक्त जगत् मे महामाया के त्रैलोक्य-मनोहर रूप के ये सर्वाधिक सुकुमार अधिष्ठान हैं। इनके स्पर्श से वायु मे मस्ती आती है और मनोज्ञ संचार अभिव्यक्त होता है। इस वायु के स्पर्श से तुम अन्तरतर की गहराई में विराजमान पराशक्ति का अस्पष्ट आभास अनुभव कर सकोगे। चण्डीश्वर के इस पवित्र धाम में उपस्थित होना न भूलना। जो भगवान् महाकाल के इस रूप की पूजा नही कर सकता, वह चारुता और स्निग्धता के हृदयोन्माथी गुणो का परिचय भी नही प्राप्त कर सकता। व्यक्त जगत् के उपरले स्तर को खरोंच-खरोचकर रस पाने की आशा करनेवाले कवि वातुल हैं। तुम गहराई मे जाकर पराशक्ति के उन्मद विलास की आभा देखने का प्रयत्न अवश्य करना।

भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य ।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भि: ॥ 33 ॥

"मेरे प्यारे जलधर मित्र ! यद्यपि मेरा हृदय सगमोत्कण्ठा से कातर है और मैं प्राकृत जन के समान प्रलाप कर रहा हूँ, तथापि मुझे रंचमात्र भी सन्देह नही है कि मेरे हृदय मे जो उत्कण्ठा और औत्सुक्य है, वह अकारण नही है। कही कोई बड़ी बात होनी चाहिए, जो मेरे शरीर और मन को मथे डालती है। मैं पागल नही हो गया हूँ। पागल उसे कहते हैं, जिसके हृदय के अभिलाष और उसे व्यक्त करनेवाली उपरले स्तर की वैखरी वाणी मे सामजस्य का पता नही रहता। मैं ज्ञानी भी नही हूँ, क्योकि ज्ञानी उसे कहते हैं, जो सत्य के अनावृत रूप को पकड लेने का दावा करता है। *मैं भ्रान्त हूँ, व्याकुल हूँ, कातर हूँ।* मुझे सत्य के अनावृत रूप का पता नही है, परन्तु उसके हिरण्मय आवरण और अन्तरतर के अनभिषिक्त जीवन-देवता का सामंजस्य मुझे मालूम है। भगवान् की ओर से तुम्हें जो नयन-सुभग रूप और श्रवण-सुभग गर्जन प्राप्त हुआ, वह भी सत्य का हिरण्मय आवरण ही है। मुझे रह-रहकर ऐसा लगता है कि सत्य ने अपने को सुन्दर रूप में अभिव्यक्त करने का जो प्रयास किया है, वही उसका हिरण्मय आवरण है। सत्य का जो यह प्रयास है, उसी को शास्त्रकारों ने इच्छा-शक्ति,

ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति का नाम दिया है। इन्हीं तीनों क्रियाओं से जगत् त्रिगुणीकृत है। इसी त्रिगुणीकृत जगत् की अभिव्यक्ति की जो प्रक्रिया है, वह देवी का 'त्रिपुरसुन्दर' है। उसी रूप के समझने से मनुष्य का सीमित ज्ञान भी सार्थक और चरितार्थ होता है। मैं कहता हूँ मित्र, महाकाल के मन्दिर में जाकर तुम अपने इस श्यामल-मनोज्ञ रूप और मन्द-मन्द श्रुति-सुखकर गर्जन को चरितार्थ बना सकते हो। यदि तुम इस रूप और इस ध्वनि का यथार्थ फल पाना चाहते हो, तो महाकाल के मन्दिर में उसका अवसर ढूंढ लेना। किसी समय भी पहुँचना, किन्तु सूर्यास्त तक रुक अवश्य जाना। जब तक सूर्य अच्छी तरह आँखों से ओझल न हो जाय, तब तक प्रतीक्षा करना। जब सूर्यदेवता अस्ताचल में विलीन हो जायेंगे और सन्ध्या का झुटपुटा प्रकाश भी धीरे-धीरे म्लान हो जायेगा, उसी समय महाकाल के मन्दिर में आरती का नगारा बज उठेगा। उस समय आरात्रिक प्रदीपों को लेकर पूजा-परायण भक्त नृत्य-निमग्न हो उठेंगे और सन्ध्या का बलि-पटह गम्भीर निर्घोष के साथ ताल देता रहेगा। उस नगारे की आनन्दध्वनि के साथ तुम भी अपने श्रुति-मधुर गर्जन की ध्वनि मिला देना और इस प्रकार तुम्हें मधुर गर्जन का जो प्रसाद मिला है, उसका पूर्ण फल प्राप्त करना। मनुष्य के सभी शब्द, सभी स्पर्श और सभी रूप महाकाल-देवता के चरणों में निछावर होकर ही धन्य होते हैं। मुझे कोई सन्देह नहीं मित्र, कि उस सन्ध्याकालीन बलि-पटह के गम्भीर निनाद के साथ जब तुम्हारे मन्द निर्घोष का ताल मिलेगा, तभी वह सार्थक और चरितार्थ होगा। उस समय क्षण-भर के लिए जो आनन्द प्राप्त होगा, वही तुम्हारे जीवन की चरम सफलता होगी। मनुष्य अपनी सीमा को यदि क्षण-भर के लिए भी असीम के ताल में ताल मिलाने में चरितार्थ कर सके, तो उसका जन्म सार्थक हो जाता है। असीम की आराधना में लगाया हुआ एक क्षण भी सीमा को चरितार्थ कर देता है, अविकल फल का अधिकारी बना देता है।

> अप्यन्यस्मिन्जलधर महाकालमासाद्य काले
> स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।

नही कर पाती। सनावरी लता जिस प्रकार पूर्वी वायु के झकोरो से बार-बार विस्रस्त होकर क्लान्त-जैसी दिखने लगती है, उसी प्रकार सरस नृत्य इन सुकुमार ललनाओ को स्रस्तविधुर बना देता है। कहाँ मदन देवता के पुष्प-धनुष की भाँति सुकुमार ललनाएँ और कहाँ गुरुभार चामरदण्ड! मित्र, इन श्रान्त-क्लान्त क्रीडा-पुत्तलिकाओ जैसी सुकुमार ललनाओ के क्लान्त मुखमण्डल पर स्वेद-बिन्दु झलक आयेंगे, उस समय तुम अपनी भीनी फुहारो से उनकी क्लान्ति दूर कर देना। वे कृतज्ञता-पूर्वक अपनी मधुकरश्रेणी-जैसे दीर्घ और चंचल कटाक्षो से तुम्हारी ओर देखेंगी। मैं यह नही कहता चाहता मित्र, कि शिव-भक्ति का फल कामिनियों के नयनाभिराम रूप का दर्शन ही है, और इसीलिए भगवान् चण्डीश्वर के दर्शन का फल तत्काल मिल जायेगा। कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं। परन्तु मैं दृढता के साथ कहना चाहता हूँ कि ऐसी छिछली और भोडी रसिकता शिव-भक्ति के न होने का परिणाम है। परन्तु इसमे मुझे रंच-मात्र भी सन्देह नही कि इन सुन्दरियो की क्लान्ति दूर करना तुम्हारे जैसे सहृदय का पावन कर्त्तव्य होगा। महाकालदेवता के नाट्यमण्डप मे सुकुमार नृत्य का आयोजन इसलिए नही किया जाता कि वहाँ छिछली और भोडी रसिकता के धनी शिवभक्त तत्काल फल पा जायें। यह नृत्य मनुष्य के भीतर जो ललित और सुन्दर है, उसका अर्घ्य महादेव को चढाने का बहाना-मात्र है। पुराण-मुनियो ने नृत्य को देवताओ का सर्वश्रेष्ठ चाक्षुष-यज्ञ माना है। इस चाक्षुष-यज्ञ द्वारा महाकालदेवता की आराधना करना अपने-आपमे ही महत्त्वपूर्ण है। बडे दुख की बात है मित्र, कि उज्जयिनी मे भी ऐसे हल्के सस्कारो के रसिक हैं, जो इस चाक्षुष-यज्ञ को ही जीवन का सबसे बडा फल मान लेते हैं! खैर, तुम नृत्य-परायण युवतियो की विलास-कातर गात्र-यष्टि और श्रम-कातर मुखमण्डल पर वर्षा की पहली फुहार देना। वह इस नृत्यरूपी चाक्षुष-यज्ञ को प्रत्यक्ष रूप से समृद्ध करेगी और तुम्हे जलधर होने का जो सौभाग्य मिला है, वह चरितार्थ होगा। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम वर्षाग्र-बिन्दुओ के निक्षेप से महादेव की आराधना मे नवीन समृद्धि जोड देना। निस्सन्देह सहृदय नर्तकियाँ तुम्हे अपनी मनोहर चितवनो के प्रसाद से धन्य करेंगी।

उत्ताल नर्तनवाला दृश्य तो उपस्थित नहीं हो रहा है! लेकिन जब वे समझ जायेंगी कि यह और कोई नहीं, वर्षाबिन्दुओं का प्रथम सवाहक सान्ध्य बलाहक है, तो उनके प्रसन्न मुखमण्डल पर हल्की स्मितरेखा उदित हो उठेगी, वे एकटक से तुम्हारी भक्ति-भावना को निहारती रह जायेंगी। पशुपति भी अवश्य प्रसन्न होंगे, क्योंकि गजासुर के मर्दन के बाद से वे प्राय: ही गजाजिन धारण करने में प्रसन्नता अनुभव करते हैं। माता पार्वती आशंकित रहती हैं कि यदि उन्हें फिर से गजाजिन प्राप्त हो जाये, तो वही उत्ताल ताण्डव फिर शुरू हो जायेगा। वे भगवान् शंकर को गजाजिन धारण करने से विरत करना चाहती हैं। भवानी की इस सुकुमार भावना को भगवान् शंकर भी समझते हैं और आदर की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें गजाजिन धारण करके ताण्डव करने की इच्छा तो रहती है, पर भवानी की भावनाओं को देखकर कुछ बोलते नहीं। जिस क्षण अनायास आई गजाजिन के रूप में विराट् बाहुवन में लीन हो जाओगे, उस क्षण उनके अधरों पर भी अवश्य लीला विलास की हल्की सी स्मितरेखा खिल उठेगी। क्षण-मात्र के लिए देवी के चेहरे पर उद्वेग की काली रेखा देखकर वे चटुल परिहास का अनायास लब्ध अवसर पाकर प्रसन्न हो जायेंगे। तुम्हें भवानी और शंकर दोनों को बारी-बारी से प्रसन्न करने का सौभाग्य प्राप्त होगा, और तुम्हारा नयन-सुभग रूप धन्य हो जायेगा।

> पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीन
> सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
> नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
> शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥ 36 ॥

6

"मित्र, कहते हैं किसी समय ब्रह्मा के अनुरोध पर शिव ने सन्ध्याकाल में ताण्डव-नृत्य किया था। बड़ा विकट नृत्य था वह! तण्डु नामक मुनि को भगवान् शंकर ने इसी नृत्य का उपदेश किया था। जिस प्रकार हाथ और पैर के योग से 108 प्रकार के करण बनते हैं, जिस प्रकार दो विभिन्न करणों के योग से नृत्य-मातृकाएँ बनती हैं, फिर तीन करणों से 'कलापक',

भाव से पालन करने के समान अधिक शान्तिदायक दूसरा उपाय नहीं है। मेरा विश्वास है कि प्रत्यूषकाल तक तुम दोनों मार्ग की क्लान्ति दूर करने में समर्थ हो सकोगे। सूर्योदय होते ही वहाँ से चल देना। मित्र, मेरा भी तो काम है। तुम्हारे-जैसे बन्धु-जन मेरे-जैसे दुःखित मित्रों की सहायता करने का जब बीड़ा उठाते हैं, तो आलस नहीं करते। तुम भी रात-भर विश्राम करके प्रत्यूषकाल में मेरी प्रिया के पास संदेशा पहुँचाने के कार्य में सुस्ती न करना। जानता हूँ कि उज्जयिनी को इतनी जल्दी छोड़ देना सरल नहीं है। परन्तु तुम सुहृद् हो, मेरे हृदय की कथा अपने हृदय में अनुभव कर सकते हो। सूर्य निकलते-निकलते तुम अलका की ओर बढ़ जाना।

"मगर ऐसी हड़बड़ी भी न करना कि उगते हुए सूर्यमण्डल पर आवरण की तरह छा जाओ। तुम नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूँ कि बहुत-से प्रेमी उसी समय अपनी उन प्रियाओं के आँसू पोंछते हैं, जो रात-भर प्रतीक्षा करते रहने के बाद भी प्रियदर्शन पाने का सौभाग्य नहीं पाये होतीं। उज्जयिनी के मनचले नागरक कभी-कभी पवित्र प्रेम का निरादर भी कर बैठते हैं। सूर्योदय-काल में खण्डिता वधुओं को आश्वासन का सुयोग तो मिल ही जाता है, और मित्र, सूर्यदेवता भी तो रात-भर की व्याकुल पद्मिनी-लताओं की आँखों पर ओस के रूप में छाये हुए अश्रुकणों को अपने किरणरूपी हाथों से पोंछने का अवसर पाते हैं! सवेरा होते ही यदि तुमने सूर्यमण्डल को ढँक दिया, तो यह पवित्र प्रेम-व्यापार भी रुक जायेगा। तुम सूर्यदेवता के किरणरूपी हाथों को रोक दोगे, तो सूर्यदेवता के चित्त में भी रोष का संचार होगा, और न जाने कुपित होकर वे क्या कर बैठें! इसीलिए कहता हूँ कि उतावली में गलती न कर बैठना।

> तां कस्याचिद्‌भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
> नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
> दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
> मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ 38 ॥

तस्मिन्काले नयनसलिलं योषिता खण्डिताना
शान्ति नेय प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयास्र कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्या
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूय ॥ 39 ॥

"इस प्रकार धीरे-धीरे तुम जब उज्जयिनी के उत्तर की ओर बढ़ोगे, तो तुम्हें गम्भीरा नाम की नदी मिलेगी। नदियाँ तो तुमसे स्वभावत प्रेम करती हैं; परन्तु गम्भीरा सचमुच गम्भीरा है। उसके प्रेम के इंगित को तुम तब तक नहीं समझ सकोगे, जब तक उसकी गम्भीर प्रकृति से परिचित नहीं हो सकोगे। गम्भीरा की प्रसन्न जलधारा गम्भीर सहृदय के चित्त के समान निर्मल है। तुम्हारा यह प्रकृति-सुभग शरीर छाया के रूप में उसकी निर्मल जलधारा में उद्भासित हो उठेगा। यही क्या कम है? प्रकृति-गम्भीर प्रणयिनियों के चित्त में छायारूप होकर प्रवेश पाना भी दुर्लभ सौभाग्य है। कुमुद पुष्पों के समान स्वच्छ विशद मछलियों के उद्वर्त के रूप में गम्भीरा की अनुरागमयी दृष्टि प्रकट होगी। इससे अधिक की आशा वहाँ न रखना। परन्तु इसे समझने में भूल भी न करना। उस प्रेम-भरी चचल चितवन का आदर करना तुम्हारा कर्तव्य है। कहीं उस रागवती के हृदय के अतल गाम्भीर्य में निकले हुए प्रेम-सकेत की उपेक्षा न कर बैठना। प्रिया की प्रकृति को समझकर उसके प्रीति-सकेतों का मूल्य आँकना चाहिए। मित्र, गम्भीरा का निर्मल जल ही उसका वस्त्र है। दूर से उसकी पतली धारा नीली साड़ी की तरह दिखायी देती है। तट-प्रदेश पर उगी हुई बेतस-लताएँ ऐसी दिखायी देती हैं, मानो गम्भीरा अपने स्रस्त-शिथिल वस्त्र को हाथों की मनोहर उँगलियों से लीलापूर्वक सँभाले हुए है। जिस समय तुम उसके इस प्रेम-शिथिल रूप को देखोगे, उस समय आगे बढ़ना कठिन हो जायेगा। मैं खूब जानता हूँ कि तुम अनुभवी रसिक हो, अवस्था-विशेष में पड़ी हुई प्रेमातुरा प्रिया की उपेक्षा करना तुम्हारे-जैसे सहृदयों के लिए असम्भव बात है। बड़े-बड़े लोग इसकी माया नहीं काट सके हैं, तुम्हारे लिए भी प्रलोभन के इस जाल को छिन्न करना कठिन हो जायेगा। लेकिन खैर।"

भाव से शयन करने के समान अधिक शान्तिदायक दूसरा उपाय नहीं है मेरा विश्वास है कि प्रत्यूषकाल तक तुम दोनों मार्ग की क्लान्ति दूर करने में समर्थ हो सकोगे। सूर्योदय होते ही यहाँ से चल देना। मित्र, मेरा भी तो काम है। तुम्हारे-जैसे धन्य-जन मेरे-जैसे दु:खित मित्रों की सहायता करने का जब बीड़ा उठाते हैं, तो आलस नहीं करते। तुम भी रात-भर विश्राम करके प्रत्यूषकाल में मेरी प्रिया के पास संदेशा पहुँचाने के कार्य में सुस्ती न करना। जानता हूँ कि उज्जयिनी को इतनी जल्दी छोड़ देना सरल नहीं है। परन्तु तुम सुहृद् हो, मेरे हृदय की कथा अपने हृदय में अनुभव कर सकते हो। सूर्य निकलते-निकलते तुम अलका की ओर बढ़ जाना।

"मगर ऐसी हड़बड़ी भी न करना कि उगते हुए सूर्यमण्डल पर आवरण की तरह छा जाओ। तुम नहीं जानते, लेकिन मैं जानता हूँ कि बहुत-से प्रेमी उसी समय अपनी उन प्रियाओं के आँसू पोंछते हैं, जो रात-भर प्रतीक्षा करते रहने के बाद भी प्रियदर्शन पाने का सौभाग्य नहीं पाये होतीं। उज्जयिनी के मनचले नागरक कभी-कभी पवित्र प्रेम का निरादर भी कर बैठते हैं। सूर्योदय-काल में खण्डिता वधुओं को आश्वासन का सुयोग तो मिल ही जाता है, और मित्र, सूर्यदेवता भी तो रात-भर की व्याकुल पद्मिनी-लताओं की आँखों पर ओस के रूप में छाये हुए अश्रुकणों को अपने किरणरूपी हाथों से पोंछने का अवसर पाते हैं! सबेरा होते ही यदि तुमने सूर्यमण्डल को ढँक दिया, तो यह पवित्र प्रेम-व्यापार भी रुक जायेगा। तुम सूर्यदेवता के किरणरूपी हाथों को रोक दोगे, तो सूर्यदेवता के चित्त में भी रोष का संचार होगा, और न जाने कुपित होकर वे क्या कर बैठें! इसीलिए कहता हूँ कि उतावली में गलती न कर बैठना।

> तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्तपारावतायां
> नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
> दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान्वाहयेदध्वशेषं
> *मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः ॥ 38 ॥*

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्
मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ 39 ॥

"इस प्रकार धीरे-धीरे तुम जब उज्जयिनी के उत्तर की ओर बढ़ोगे, तो तुम्हें गम्भीरा नाम की नदी मिलेगी। नदियाँ तो तुमसे स्वभावतः प्रेम करती हैं, परन्तु गम्भीरा सचमुच गम्भीरा है। उसके प्रेम के इंगित को तुम तब तक नहीं समझ सकोगे, जब तक उसकी गम्भीर प्रकृति से परिचित नहीं हो सकोगे। गम्भीरा की प्रसन्न जलधारा गम्भीर सहृदय के चित्त के समान निर्मल है। तुम्हारा यह प्रकृति-सुभग शरीर छाया के रूप में उसकी निर्मल जलधारा में उद्भासित हो उठेगा। यही क्या कम है? प्रकृति-गम्भीर प्रणयिनियों के चित्त में छायारूप होकर प्रवेश पाना भी दुर्लभ सौभाग्य है। कुमुद पुष्पों के समान स्वच्छ विशद मछलियों के उद्वर्तन के रूप में गम्भीरा की अनुरागभरी दृष्टि प्रकट होगी। इससे अधिक की आशा वहाँ न रखना। परन्तु इसे समझने में भूल भी न करना। उस प्रेम-भरी चंचल चितवन का आदर करना तुम्हारा कर्तव्य है। कहीं उस रागवती के हृदय के अतल गाम्भीर्य से निकले हुए प्रेम-संकेत की उपेक्षा न कर बैठना। प्रिया की प्रकृति को समझकर उसके प्रीति-संकेतों का मूल्य आँकना चाहिए। मित्र, गम्भीरा का निर्मल जल ही उसका वस्त्र है। दूर से उसकी पतली धारा नीली साड़ी की तरह दिखायी देती है। तट-प्रदेश पर उगी हुई वेतस लताएँ ऐसी दिखायी देती हैं, मानो गम्भीरा अपने स्रस्त-शिथिल वस्त्र को हाथों की मनोहर उँगलियों से लीलापूर्वक सँभाले हुए है। जिस समय तुम उसके इस प्रेम-शिथिल रूप को देखोगे, उस समय आगे बढ़ना कठिन हो जायेगा। मैं खूब जानता हूँ कि तुम अनुभवी रसिक हो; अवस्था-विशेष में पड़ी हुई प्रेमातुरा प्रिया की उपेक्षा करना तुम्हारे-जैसे सहृदयों के लिए असम्भव बात है। बड़े-बड़े लोग इसकी माया नहीं काट सके हैं, तुम्हारे लिए भी प्रलोभन के इस जाल को छिन्न करना कठिन हो जायेगा। लेकिन खैर।"

गम्भीराया पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम् ।
तस्मादस्या कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ 40 ॥
*तस्याः किंचित्करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं*
नीत्वा नील सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम् ।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो विवृतजघना को विहातुं समर्थः ॥ 41 ॥

यक्ष ने मेघ में थोड़ी-सी चंचलता देखी। उसे ऐसा लगा कि मार्ग बताने के बहाने उसने अपने हृदय का उद्वेग-निवेदन करना प्रारम्भ कर दिया है और मेघ उतावला हो उठा है। वह अलका-प्रस्थान करने के लिए व्याकुल है, किन्तु अपने मित्र यक्ष की हृदय-वेदना की उपेक्षा भी नहीं करना चाहता। अभी तो मार्ग बताने में ही इतना समय लग गया, संदेशा तो कुछ कहा ही नहीं गया। उसने मेघ से अत्यन्त कातर वाणी में कहा कि "मित्र, रास्ता अवश्य सुन लो, देर तो हो ही रही है; किन्तु गलत रास्ते से कितनी देर होगी, यह कहना कठिन है।" यक्ष की आँखों में गम्भीरा के उस पार का मार्ग चित्रलिखित-सा प्रत्यक्ष हो उठा। उसने कल्पना की आँखों से देखा कि मेघ उसके प्रणय का सन्देश लेकर देवगिरि की ओर उड़ा जा रहा है। स्थान-स्थान पर बरसकर वह प्यासी धरती के सिक्त धरातल से सोंधी गन्ध उत्पन्न किये जा रहा है। हवा इस सोंधी गन्ध से रमणीय हो उठी है। विन्ध्याटवी के जंगली हाथी गर्जना करके इस वायु को पीकर मतवाले बनते जा रहे हैं, और विन्ध्य-पर्वत की पहाड़ियों के उदुम्बर (गूलर) वृक्षों के फल इस सोंधी और भारी हवा का सम्पर्क पाकर लाल होते जा रहे हैं। मेघ देवगिरि के मार्ग में दौड़ता जा रहा है। लेकिन वह क्या देवगिरि को भी इसी प्रकार पार कर जायेगा? क्या वह एक क्षण के लिए भी अब रुकेगा नहीं? क्या धरती की सोंधी गन्ध से गुरुभार बनी हुई वायु देवगिरि की वनस्थलियों में चंचलता ले आकर आगे बढ़ जायेगी? मेघ उड़ता जा रहा है, उद्दाम वेग से बढ़ता चला जा रहा है। रुकता नहीं, झुकता नहीं, निरन्तर शानदार उड़ान से आकाश को नयनाभिराम बनाता

हुआ आगे ही बढ़ता चला जा रहा है। यक्ष ने उत्क्षिप्त होकर कहा—"रुको मित्र! यह देवगिरि है, इस देवगिरि पर्वत पर महादेव के पुत्र, पार्वती के दुलारे कुमार स्कन्द जमकर बस गये हैं। देवगिरि उनकी नियत वासस्थली है। यह उनका सर्वप्रिय वासस्थल है। यहाँ भी फिर पूज्य-पूजाव्यतिक्रम न कर बैठना। फूलों के बादल बनकर आकाश-गंगा के जल में आर्द्र कुसुम-राशि की वर्षा करके इस दृप्त कुमार की पूजा अवश्य कर लेना। इन्द्र की सेनाओं की रक्षा करने के लिए बालचन्द्र का आभरण धारण करनेवाले महादेव ने अपने उस तेज को अग्नि में निहित किया था, जो सूर्य से भी प्रचण्ड था। उसी तेज के मूर्तिमान रूप स्कन्ददेवता हैं। इनकी उपेक्षा न कर बैठना। भवानी अपने इस लाडले पुत्र को कितना प्यार करती हैं, इसका अन्दाजा इसी से लग जायेगा कि उनका प्रिय वाहन मयूर जब नृत्य-उल्लास में नाच उठता है और उसका वह मनोहर बर्ह, जिसमें ज्योति-रेखा के वलय पड़े हुए हैं, जब गिर जाता है, तो वे अपने दुलारे के वाहन का पंख समझकर अपने उन कानों में खोंस लेती हैं, जो नीलकमल के दलों को प्राप्त करने के उपयुक्त अधिकारी हैं। कार्तिकेय के उस मयूर की सफेद आँखें शिवजी के भाल-देश पर स्थित चन्द्रमा की किरणों से और भी चमकती रहती हैं। कार्तिकेय पर फूलों की वर्षा करने के पश्चात् तुम अपने उस मन्द्र ध्वनिवाले गर्जन से मयूर को नचा देना, जो देवगिरि की कन्दराओं से निकली प्रतिध्वनि से और भी गम्भीर हो उठेगी। जरा सोचो तो मित्र, कुमार कार्तिकेय का यह मयूर कितना बड़भागी है कि त्रैलोक्यजननी अपने कानों में नीलकमल को हटाकर उसके स्खलित बर्ह को धारण करती हैं! इसीलिए कहता हूँ, जरा रुककर कार्तिकेय की अभ्यर्थना अवश्य कर लेना।

"मेरे जलधर मित्र, मैं तुम्हारे सहज समदर्शी रूप का प्रशंसक हूँ। ऊँचा हो या नीचा हो, उजाड़ हो या बगीचा हो, तुम समान भाव से सबको जीवन-दान देते हो। किन्तु सब लोग ऐसी उदार नीतिवाले नहीं हुआ करते। लोगों में जन्म को लेकर, कुल और देश को लेकर, धन और दरिद्रता को लेकर छोटा-बड़ा समझने की भावना प्रबल है। जिस देवता को देवगिरि में अधिष्ठित देख रहे हो, उसके उद्भव के प्रताप से तुम परिचित

हो ही, लेकिन कदाचित् तुम्हें यह नहीं मालूम कि इस देवता का उत्पत्ति-स्थान सरकण्डों का जंगल है! जिस तेज को पार्वती नहीं धारण कर सकीं, अग्निदेव नहीं धारण कर सके, महिमामयी गंगा की धारा नहीं धारण कर सकी, उसे सरकण्डों के घने जंगल ने निर्विकार भाव से स्वीकार कर लिया। कहते हैं, उस प्रदीप्त तेज से गंगा की धारा में भयंकर दाहक ज्वाला आविर्भूत हुई थी। उस तेज को सहन न कर सकने के कारण तरंग-रूपी हाथों से उन्होंने ठेलकर उसे पुलिन-भूमि पर फेंक दिया। वह तेज सरकण्डों के जंगल में छह टुकड़ों में विभाजित होकर कुमार 'षडानन' के रूप में आविर्भूत हुआ। उस समय पति-परित्यक्ता कृत्तिकाएँ उसी शरवन से कहीं जा रही थीं। उन्होंने षडानन कुमार को स्तन्यपान कराकर बड़ा किया, इसलिए उस कुमार का नाम कार्तिकेय पड़ा। सरकण्डों के जंगल में पैदा होने के कारण इस महातेजस्वी कुमार के प्रति देवताओं में उपेक्षा-बुद्धि थी। कुमार ने विद्रोह किया। उस परम तेजस्वी कुमार के पराक्रम से विचलित होकर देव-सेना को उसे स्वामी-रूप में वरण करना पड़ा और तब जाकर राक्षसों के भयंकर उत्पात से देवलोक की रक्षा हो सकी। ऐसी प्रसिद्धि है मित्र, कि दीर्घकाल तक स्कन्दकुमार वन्य जातियों के ही देवता के रूप में पूजित रहे। आर्य जनता ने बहुत दिनों तक उन्हें अपना देवता नहीं माना। लेकिन तेज की कोई कब तक उपेक्षा कर सकता है? आज के प्रबल प्रतापी नरपतियों ने कुमार को प्रमुख देवता के रूप में स्वीकार किया है। प्राग्ज्योतिषपुर से वंक्षु-नद तक जो गुप्त-नरपतियों का प्रताप और विक्रम सूर्य के समान चमक रहा है, उसमें स्कन्द की आराधना का प्रमुख हाथ है। ऐसे महातेजस्वी देवता की उपेक्षा सिर्फ इसलिए करना कि वह सरकण्डों के जंगल में उत्पन्न हुआ है, अनुचित बात थी। तुम ऐसा प्रमाद न कर बैठना। शरवन (सरकण्डों का वन) में उत्पन्न देवता की आराधना किये बिना आगे न बढ़ना। देवगिरि में स्कन्ददेवता की आवास-भूमि के चारों ओर विषम पर्वत-मालाएँ हैं। सीधी उड़ान भरके तुम आगे नहीं बढ़ सकोगे। इस विषम पार्वत्य मार्ग को पार करने के लिए तुम्हें रह-रहकर ऊँचाई पर उड़ना पड़ेगा और इस प्रकार तुम्हें मार्ग को उल्लंघित करके जाना अर्थात् ऊपर उठ-उठकर सोचना पड़ेगा। ऐसा अवसर आ सकता है कि तुम्हें इतनी ऊँचाई

र उड़ना पड़े कि मार्ग में सिद्ध-दम्पतियों से टकरा जाना पड़े। ये लोग प्रतिदिन कुमार कार्तिकेय की पूजा करने के लिए इधर आया करते हैं। इन सिद्ध-दम्पतियों का सुन्दर रूप तुम्हें बड़ा मनभावना मालूम होगा, परन्तु यह आशंका नहीं है कि उन्हें रास्ता देने के लिए तुम्हें दायें-बायें मुड़ना पड़े। अगर ऐसी वक्रगति में चलना पड़ा, तो तुम्हें अवश्य कष्ट होगा। सिद्ध-दम्पतियों के हाथ में मधुर-ध्वनि करनेवाली वीणा अवश्य रहती है। तुम्हें देखते ही वे अवश्य रास्ता छोड़ देंगे, क्योंकि उन्हें डर होगा कि तुम्हारे आर्द्र शरीर से जल के जो फुहारे अनायास निकला करते हैं, वे वीणा के तारों को भिगोकर ऐसा न बना दें कि उनसे सुन्दर ध्वनि निकलने में कठिनाई हो। अपनी वीणा को वे प्राणों से भी अधिक प्यार करते हैं, इसलिए मैं निश्चित जानता हूँ कि तुम्हें दूर से देखकर ही वे रास्ता छोड़ देंगे। इस प्रकार बाधाओं से विचलित हुए बिना तुम सरसर उड़ते चले जाना। देवगिरि की उच्चावच पार्वत्य भूमि को पार करते ही तुम्हें चम्बल के विस्तीर्ण ढूहों के ऊपर से उड़ना पड़ेगा। चम्बल का पुराना नाम चर्मण्वती है। शरवनोत्पन्न महातेजस्वी देवता कुमार कार्तिकेय के समान इस शक्ति-शाली नदी के प्रति भी आर्य जनता ने दीर्घकाल से उपेक्षा का भाव बना रखा है। थोड़ी ही दूर पर जो दशपुर नाम का नगर मिलेगा, वहाँ के प्रतापी राजा रन्तिदेव ने 'गवालम्भ' यज्ञ किया था। इस सत्रपन यज्ञ में सैकड़ो गायें बलि हुई थीं। कहते हैं कि उनके चमड़ों को धोकर सुखाया जाता था और उससे जो पानी बहा, वही चर्मण्वती नदी के रूप में परिणत हो गया। इन प्रदेशों में प्रसिद्ध है कि चमड़े से उत्पन्न होने के कारण यह नदी अपवित्र हो गयी है। मैं जब इन गवालम्भ यज्ञों की कल्पना करता हूँ, तो भय से व्याकुल हो उठता हूँ। रुद्रों की माता, आदित्यों की स्वसा, वसुओं की दुहिता सुरभि-तनयाएँ क्या इसी प्रकार बलि देने के लिए बनी हैं? महाराज रन्तिदेव की कीर्ति चर्मण्वती नदी के प्रवाह में परिणत होकर रह गयी और परिणाम यह हुआ है कि योजनों तक इस नदी ने अत्यन्त उर्वर भूमि को ऊबड़-खाबड़ ढूहों के रूप में वन्ध्या बना रखा है। जहाँ तक इस नदी के दृप्त पौरुष का सामर्थ्य है, वहाँ की भूमि को जोतने के लिए कोई 'गोवश' का उपयोग नहीं कर सकता। पता नहीं प्रजा ने किस अभिप्राय

से चर्मण्वती नदी के प्रादुर्भाव के विषय में ऐसी कीर्तिकथा गढ ली है। परन्तु मैं कहता हूँ मित्र, जिस दिन प्रजा इस नदी के प्रवाह को मंगल-बुद्धि से निश्चित प्रणालिका-मार्ग से नियन्त्रित कर लेगी, उस दिन इस बदनाम नदी के प्रवाह से सोना झरेगा। तेज को बुरा नाम देकर बदनाम करना अपनी असमर्थता का विज्ञापन करना है। तुम यहाँ भी चूक न जाना। ज़रा झुककर इस महातेजस्विनी नदी का सम्मान कर लेना। इससे तुम उपयुक्त व्यक्ति का उपयुक्त सम्मान ही करोगे।

त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः
स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिषोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्॥ 42॥
तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना—
मत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धितेजः॥ 43॥
ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा कुवलयदलप्रापि कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं मयूरं
पश्चादद्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः॥ 44॥
आराध्यैनं शरवणभवं देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः।
व्यालम्बेथाः सुरभितनया लम्भजां मानयिष्य-
न्स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम्॥ 45॥

"जिस समय तुम चर्मण्वती नदी में पानी लेने के लिए झुकोगे उस समय तुम्हारा मार्ग छोड़कर हट गये हुए सिद्ध विद्याधर आदि देवजाति के गायक तुम्हारी जो अद्भुत शोभा देखेंगे, उसकी कल्पना करके मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है। कैसी होगी वह शोभा! सुदूर ऊपर से सिद्ध विद्याधर चर्मण्वती नदी की चौड़ी धारा को भी पतली लकीर के समान देखेंगे,

उस पर झुका हुआ तुम्हारा यह नील शरीर, जिसने भगवान् विष्णु के रंग को चुरा लिया है, इन्द्रनीलमणि के समान दिखायी पड़ेगा। आँखें मल-मलकर सिद्धगण अवाक्-भाव से सोचेंगे कि धरती ने एक लड़ वाली मोती की माला तो नहीं पहन रखी है, जिसके मध्यभाग में बड़ी-सी इन्द्रनीलमणि शोभित हो रही है ! धरती की एकावली मुक्तामाला की इन्द्रनीलमणि ! सिद्ध विद्याधरों की दृष्टि जिस समय चकित भाव से इस शोभा को देखती रहेगी, उस समय वह अपने-आपमें भी मामूली शोभा नहीं होगी। मैं यह सोच-सोचकर पुलकित हो रहा हूँ।

> त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
> तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम् ।
> प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टी-
> रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥ 46 ॥

7

"थोड़ी देर के लिए सिद्ध विद्याधरों को चकित करनेवाली शोभा का हेतु बनकर तुम आगे बढ़ जाना। देर तक अच्छे-से-अच्छे कौतुक का पात्र बनना उचित नहीं होता। ज्यों ही तुम चर्मण्वती के दूहों को पार करोगे, त्यों ही दशपुर नामक नगर के ऊपर चक्कर काटते दिखायी दोगे। मित्र, सिद्ध-वधुओं की मुग्ध-चकित-दृष्टि का प्रसाद व्यर्थ नहीं जायेगा। दशपुर की वधुएँ भी तुम्हें अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से कौतूहलपूर्वक देखेंगी। उन बड़ी-बड़ी आँखों की भ्रूलताएँ विभ्रम-विलास में अनभिज्ञ नहीं हैं। जब उनके नयन-पक्ष्म ऊपर उठें और उनमें कृष्णसारप्रभावाली वह मनोहर चितवन, जो रगों में उछाले हुए कुन्द पुष्पों के पीछे दौड़नेवाली भ्रमरावली की शोभा की प्रतिस्पर्द्धिनी होती है, तुम्हारी ओर प्रसारित हो, तो मेरे सहृदय मित्र, तुम उनका लक्ष्य बनना। अपनी शोभा को ऐसे मनोहर नयनों का विषय नहीं बनाओगे, तो फिर इस सजल श्यामल रूप को कैसे चरितार्थ करोगे !"

यक्ष ने इतना कहने के बाद देखा कि मेघ मुस्करा रहा है। सोचने लगा, उससे क्या कोई प्रमाद हो गया है ? क्या वह ऐसा कुछ कह गया है,

जो उसे नही कहना चाहिए ? विरह-विधुर का चित्त वश मे नही रहता, कण्ठ गद्गद हो आता है और वाणी स्खलित हो जाती है। अवश्य उससे कोई स्खलन हुआ है, नही तो मेघ-जैसा मित्र ऐसी अर्थ-भरी हँसी नहीं हँसता। उसे तुरन्त स्मरण आया कि उसने दशपुर-वधुओ के नयनो को उपमा मे कृष्णशारप्रभा की कान्तिवाला कहा है। जो कहना चाहता था, वह नही कहा गया, और जो नही कहना चाहता था, वह अनायास मुँह से निकल गया। कृष्णशार का अर्थ हुआ अधिक काली, कुछ सफेदी और कुछ लाली की मिश्रित छटा। वह दृष्टि जो 'अमिय हलाहल मद-भरी' होती है तथा जिसमे 'श्वेत, श्याम और रतनार' का मिश्रण होता है। लेकिन मेघ ने कहना चाहा था 'कृष्णसार' अर्थात् मृग-विशेष। उसके मन मे रन्तिदेव *के विकट यज्ञो की बात घूम रही थी। वह बताना चाहता था कि तुम जिस* देश मे जा रहे हो, वह याज्ञिक देश है, वहाँ कृष्णसार मृग स्वच्छन्द चरा करते है। उसकी काली-काली कँटीली आँखो की चितवन वैसी ही होती है, जैसी सफेद कुन्द-पुष्प के पीछे दौडनेवाली भ्रमर-पंक्ति। परन्तु स्खलित वचन के कारण 'कृष्णसार' की जगह कृष्णशार' कह गया। बोला—"बुरा क्या है मित्र ! विरही बन्धु के स्खलित वचनों से यदि कृष्णसार मृग की कान्तिवाले नयन 'अमिय हलाहल मद-भरे' मान लिये जायँ, तो जो व्यक्ति उनका विषय बन रहा है, उसे हानि ही क्या है ? जानता हूँ, तुम मेरे स्खलित वचनो से अपने ही वैदग्ध्य का अपलाप कर लेना चाहते हो। लेकिन मैं सचमुच मानता हूँ कि दशपुर-वधुओ के नयन, पवित्र यज्ञ-भूमि मे सचरण करनेवाले कृष्णसार मृगो की प्रभा को ही धारण करते हैं। दशपुर-वधुओं की पवित्र आँखों से इन भीत-चपल मृगो और उनके भोले-भोले पवित्र दृगो की कान्ति ही तुलनीय हो सकती है। मैं सचमुच ही तुम्हे मादक दृष्टि का शिकार होने की आशंका से बचाना चाहता हूँ। मेरी स्खलित वाणी को प्रमाण न मान लेना।

"देखो बन्धु, तुम अब पवित्र यज्ञ-भूमि के मार्ग से संचरण करोगे। यहाँ का सौन्दर्य भी निश्छल और पवित्र होता है। इधर तो एक प्रकार के ऐसे भी रसिक जन दिखायी देने लगे हैं, जो पुरवधू के प्रत्येक कौतूहल में साभिप्राय भाव ही देखते हैं। *वे यह मानना ही नहीं चाहते कि पुर-वधुओं*

[illegible] सान्ध्य [illegible] [illegible] [illegible] वह [illegible] आभा [illegible] [illegible]
उसने [illegible] को क्षण-भर के लिए उद्भासित कर दिया करती है। मैं भी
नहीं जानता और तुम भी नहीं जानते कि पौर-वनिताओं और जानपद-वधुओं की मुग्ध दृष्टियों में तुम्हारी इस श्यामल शोभा के प्रति कौन-सा सौहार्द-भाव अकारण उद्वेल हो उठता है। कहीं कुछ गहराई में होना चाहिए जो हमारी सारी सत्ता को आलोड़ित कर देता है।"

यक्ष ने देखा कि मेघ के परिहास-लोल मुखमण्डल पर गम्भीर भाव आ गया है। वह सौन्दर्य-तत्त्व की अधिक व्याख्या सुनने को प्रस्तुत नहीं है। विरही हो, तो विरही की तरह बात करो बाबा! मनुष्य-जीवन के अस्तित्व की गहराई में डुबकी क्यों लगाते हो? क्षण-भर के लिए उसका कण्ठ सूख गया, आँखें सजल हो गयीं। ऐसा जान पड़ा, जैसे हृदय-स्थित प्रिया ने भृकुटि-तर्जन के साथ कहा हो—'विलम्ब के कारण तुम हो।' यक्ष ने अपना अपराध समझा। दशपुर तक पहुँची हुई उसकी दृष्टि शीघ्र गति से अलका की ओर धावमान हुई। उसने देखा—मेघ सरस्वती और दृषद्वती नामक देव-नदियों के अन्तर्वर्ती द्वाब में उड़ता चला जा रहा है। उसकी छाया इस देवनिर्मित ब्रह्मावर्त्त-देश को अवगाहित करती हुई आगे बढ़ती जा रही है। वह उस इतिहास-विश्रुत कुरुक्षेत्र प्रदेश के ऊपर उड़ता जा रहा है, जहाँ

किसी समय गाण्डीव-धन्वा अर्जुन ने इसी प्रकार वाण की वर्षा से छबीले नौजवान वीरों के मनोहर मुखों को अपने बाणों की सफेद धारा से उसी प्रकार भूलुण्ठित कर डाला था, जिस प्रकार झमाझम वर्षा करके उसका मित्र मेघ कुरुक्षेत्र के सरोवरों के कमलो को निपातित कर रहा है। ठीक रास्ते-रास्ते जा रहे हो दोस्त, आगे बढते जाओ। अलका जाने का मार्ग इसी क्षत्रिय-विनाशी क्षेत्र के ऊपर से है। हाय-हाय! युद्ध की भीषण ज्वाला में इस कौरव-क्षेत्र मे न जाने कितनी सुहागिनों का सुहाग झुलस गया था। गाण्डीव-धन्वा के प्रबल भुजदण्ड ने न जाने कितने होनहार तरुणो का वध किया था। युद्ध भी कैसा भयंकर रोग है! जब वह मनुष्य के चित्त को उन्मत्त बना देता है, तो एक-दूसरे के प्राण-घात के लिए तत्पर जंगली भैंसों से मनुष्य मे कोई अन्तर नही रह जाता। लेकिन अब बात बढाना उचित नही है। कुरुक्षेत्र का रक्त-कर्दम अब सूख गया है। काल-देवता का स्निग्ध भृकुटि-पात इस भयकर नर-संहार के ऊपर विस्मृति का पर्दा डाल चुका है—उसी प्रकार जिस प्रकार, मेघ इस धरती पर अपनी छाया डालता भागा जा रहा है।

> तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
> पक्ष्मोत्क्षेपादुपरि विलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
> कुन्दक्षेपानुगमधुकरश्रीमुषामात्मबिम्बं
> पात्रीकुर्वन् दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्॥ 47॥
> ब्रह्मावर्तं जनपदमथच्छायया गाहमानः
> क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
> राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
> धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ 48॥

मेघ अब सरस्वती के पवित्र जल के ऊपर उड़ता चला जा रहा है। सरस्वती का पवित्र जल! महाभारत के सबसे फक्कड और मस्तमौला वीर बलराम जब कौरव और पाण्डव सेनाओं मे अपने ही प्रियजनों को जूझते देखकर युद्ध से विमुख हो गये थे, तो इस भयंकर शस्त्र-प्रतिद्वन्द्विता में निरर्थक अहंकारो और संकीर्ण वैर-भाव का आभास पाकर वे कुरुक्षेत्र की भीषण मार-काट से दूर रहने का सकल्प लेकर इसी सरस्वती नदी के

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां या विहस्येव फेनैः

शंभो: केशग्रहणमकरोदिन्दुलग्नोर्मिहस्ता ॥ 50 ॥

मेघ और भी आगे बढ़ता है। यक्ष के कल्पना-विहारी नयनों के सामने शोभा का समुद्र लहरा उठता है। अब हिमालय की देवभूमि सामने आती जा रही है। गंगा जिस पर्वत से निकलती है, उसकी शिलाओं में कस्तूरी-मृग के बैठने के कारण सुगन्धि आ गयी होती है। वह नीचे से ऊपर तक हिमाच्छादित होने के कारण सफेद दिखायी देता है। इसी तुषार-गौर पर्वत की ऊँची चोटी पर मेघ थोड़ा विश्राम करता है। "ठीक है, मित्र, देवगिरि से इस तुषार-गौर पर्वत तक तुम केवल उड़ते ही जा रहे हो। नदियों का पानी पीते हो और प्रजा के मंगल के लिए उसे दोनों हाथों लुटाते हो। थोड़ा विश्राम तो करना ही चाहिए। मैं उस शोभा की कल्पना कर सकता हूँ, जिस समय तुम गगा को जन्म देनेवाले महान् गिरिराज के तुषार-गौर शृंग पर क्षण-भर के लिए विश्राम करने लगोगे, उस समय ऐसा जान पड़ेगा कि महादेव के श्वेत वृषभ ने यहीं कीचड में अपनी सीगो से जमके उखाड़ने का सुख लूटा है, और अब उन सीगों में काला कीचड़ लिपटा हुआ है। यदि यह देखना कि विशालकाय देवदारु वृक्षों की शाखाओं के संघर्ष से उत्पन्न दावाग्नि ने चमरी गौओं की सुन्दर पुच्छो को झुलसा दिया है और इस प्रकार वह हिमालय को पीड़ा पहुँचा रही है, तो सहस्रधार होकर बरस जाना। तुम्हें इस प्रकार पीड़ा पहुँचानेवाले दावानल को अवश्य शान्त कर देना चाहिए। सज्जनो के पास जब सम्पत्ति आती है, तो उसका एक ही फल होता है—दुखित जनो के दु.ख का निवारण। यदि विपत्तिग्रस्त लोगो को विपत्ति से बचाया न जा सके, तो सम्पत्ति का मूल्य ही क्या है? जड-सम्पत्ति सचित होकर केवल विकार की सृष्टि करती है, किन्तु विपत्ति-ग्रस्त लोगो की सेवा मे नियोजित होकर वह सार्थक हो जाती है। इसीलिए कहता हूँ कि उत्तम जनो की सम्पत्ति का एक ही फल है—दुखित जनो का दु.ख-निवारण। तुम्हारे पास जो जल-धारा की सम्पत्ति है, उसका भी यही उपयोग होना चाहिए। मित्र! हिमालय मे लगी हुई दावाग्नि को धारा-सार वर्षा के द्वारा शमन करना तुम्हारा कर्तव्य है।

तस्याः पातु सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमेवाभिरामा ॥ 51 ॥

*आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां*
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम् ॥ 52 ॥

"यदि तुम्हारे गर्जन को न सहकर क्रोध से उन्मत्त होकर शरभ नामक हिरण उछल-कूद मचायें और तुम्हारे मार्ग मे बाधा उपस्थित करें, तो उन्हें उचित दण्ड देना। हिमालय के वन-प्रदेश में रहनेवाले ये मृग बड़े चंचल होते हैं। मेघ-गर्जन से क्रुद्ध होकर जब ये कूदने लगते हैं, तो इस बात का भी ध्यान नहीं रखते हैं कि उछल-कूद से उन्हीं का अंग-भंग होगा। ये तुम्हारा मार्ग तो क्या रोक सकेंगे, लेकिन जब ये झुण्ड-के-झुण्ड निकलकर वेगपूर्वक कूदने और दौड़ने लगेंगे, तो कठिनाई अवश्य उत्पन्न कर देंगे। ओले गिराकर उन्हें तुम तितर-बितर कर देना। इस प्रकार के निष्फल प्रयत्न करनेवालों को परिभव नहीं मिलेगा, तो और क्या मिलेगा? अपनी शक्ति को न समझकर बड़ों की मर्यादा लाँघने की हिमाकत करने-वाले इसी प्रकार अपमानित होते हैं।

तं चेद्वायौ सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्काक्षपितचमरीवालभारो दवाग्निः।
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम् ॥ 53 ॥

ये संरम्भोत्पतनरभसाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मि-
न्मुक्ताध्वानं सपदि शरभा लङ्घयेयुर्भवन्तम्।
तान्कुर्वीथास्तुमुलकरकावृष्टिपातावकीर्णान्
के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः ॥ 54 ॥

"हिमालय का यह प्रदेश भगवान् शंकर के सचार से अत्यन्त पवित्र हो गया है। यहाँ की एक शिला तो उनके चरणों से निश्चित रूप से चिह्नित

है। सिद्ध-जन नित्य इसकी पूजा किया करते हैं। जब तुम इस स्थान पर पहुँचना तो भक्ति-नम्र होकर उसकी प्रदक्षिणा अवश्य कर लेना। हिमालय की भूमि में विचरण करनेवाले सिद्ध लोगों ने मन्त्र-तन्त्र योग का बहुत प्रचार कर रखा है, किन्तु उनमें भक्ति का अभाव है। भगवान् शंकर के प्रति जिन लोगों की श्रद्धा है और इनके ऊपर जिनका अखण्ड विश्वास है, वे ही शाश्वत पद के अधिकारी हैं। इसके दो करण हैं: बाह्यकरण और अन्तःकरण। मनुष्य जब तक अपनी बुद्धि पर भरोसा रखता है, तब तक वह अनाश्वत और शाश्वत तत्त्वों का भेद भुला नहीं पाता। बाह्यकरणों के प्रति अनास्था होने के बाद भी वह अन्तःकरणों को अर्थात् मन, बुद्धि इत्यादि को कसके पकड़े रहता है। वह समझता है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि शत्रु उसके पीछे पड़े हुए हैं, इनका उच्छेद किये बिना वह शान्ति की साँस नहीं ले सकता। कष्टसाध्य तपस्याओं के द्वारा और कठिन योग-क्रियाओं के द्वारा वह अपने अन्तःकरण के विकारों को मारने का प्रयत्न करता है। लेकिन ये विकार क्षीण होकर भी जीवित रह जाते हैं और जरा भी शिथिलता आयी कि धर दबोचते हैं। मैं मानता हूँ मित्र, कि अन्तःकरण के इन विकारों का उन्मूलन करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है। ये तो हमारे अन्तरात्मा के सीमा-बद्ध होने के लक्षण हैं। विद्या, कला, राग, काल और नियति—माया के इन पाँच कचुकों से कचुकित शिव ही जीव-रूप में प्रकट हुआ है। जब तक जीव 'जीव' है, तब तक न तो वह इन विकारों से मुक्त हो सकता है और न इन विकारों को असत्य कहा जा सकता है। ये सभी जीव के अपने सत्य हैं। इनके पाप-आकर्षण से भीत नहीं होना चाहिए। श्रद्धा और भक्ति के द्वारा इनकी वृत्ति को जड विकारों की ओर से हटाकर चिन्मय तत्त्व की ओर उन्मुख कर देना चाहिए। जड-विषयक रति को चिद्विषया बना देने के सिवा भक्ति का कोई और मतलब नहीं होता। जो रति पुत्र, दारा और धनादि के प्रति है, उसे समस्त चराचर के मूल में स्थित चिदानन्दमय महासत्य की ओर उन्मुख कर देने का नाम ही भक्ति है। उस समय अन्तःकरण के विकारों को सुखा देने या नष्ट कर देने का प्रयत्न नहीं होता, बल्कि अन्तःकरण को दूसरी ओर फेर देने का प्रयत्न होता है। मनुष्य के लिए यह मार्ग सहज और स्वाभाविक है। श्रद्धावान

होकर और अपने-आपको ही पा जाता है। कवि करणों के इस अन्तर्मुखी-करण को ही 'करण-विगम' कहता है—'करणविगम' अर्थात् 'करणों' को दूसरी ओर मोड़ देना। एक बार यदि समस्त अन्तःकरण की प्रवृत्तियों और बाह्यकरणों की चेष्टाओं को त्रिपुर-विजयी महादेव के चरणों में केन्द्रित किया जा सके, तो समस्त पाप और कल्मष स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं और उस महादेव के शाश्वत अनुचर होने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया जाता है। इसलिए महादेव के चरण-न्यास से पवित्र शिलापट्ट को भक्ति-भाव से प्रणाम करने के बाद तुम महादेव के प्रति श्रद्धा न खोओगे और उस फल को प्राप्त करोगे जिससे बढ़कर कोई दूसरी चरितार्थता नहीं।

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौले:<br>
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्र: परीया: ।<br>
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापा:<br>
संकल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधाना: ॥ 55 ॥

"देखो भाई, हिमालय पर कीचक जाति के बाँस पाये जाते हैं जो वायु से पूर्ण होकर मधुर ध्वनि किया करते हैं। वहीं किन्नर युवतियाँ सम्मिलित भाव से त्रिपुर-विजय का गान भी करती हैं। इसी प्रकार स्वाभाविक वेणु-निनाद के साथ सुकण्ठी किन्नरियों का गान चलता रहता है। कमी केवल मुरज वाद्य की रह जाती है। यदि उस प्रदेश की कन्दराओं में तुम्हारा गर्जन ध्वनित हो उठे, तो भगवान् शंकर के संगीत का जो अंग अपूर्ण रह गया है, वह पूर्ण हो जायेगा। ऐसा सौभाग्य किसे मिलता है? कीचक-वेणुओं की अयत्न-साधित मधुर वंशी-ध्वनि और तुम्हारे मधुर गर्जनों से प्रतिध्वनित गिरिकन्दराओं से निकलनेवाली मृदंग-ध्वनि, और इन दोनों के साथ ताल मिलाती हुई किन्नर-वधुओं की कण्ठ-ध्वनि। तुम्हारे इस मनोहर सौभाग्य की बलिहारी है, मित्र!

"हिमालय के तट-प्रदेश के जो भी दर्शनीय स्थान हैं, उन्हें तुम देख लेना; मगर जल्दी करना। यथासम्भव एक उड़ान में इन सुन्दर स्थलों को देखकर आगे बढ़ना। आगे तुम्हें हंस-द्वार मिलेगा। इसी मार्ग से प्रतिवर्ष सहस्रों हंस, कारण्डव और क्रौंच पक्षी उत्तर कुरु पर्वत तक उड़कर जाते हैं। कहते हैं कि किसी समय शिवजी से अस्त्रविद्या सीखते समय परशुरामजी

ने स्कन्द के साथ प्रतियोगिता करके एक बाण से क्रौंच पर्वत को इस प्रकार छेद डाला था, जैसे वह मिट्टी का ढेला हो। तबसे यह क्रौंच-रन्ध्र परशुरामजी के यश का मार्ग ही बन गया। इसी मार्ग से उत्तर की ओर प्रस्थान करना। जब उस समय तिरछी उड़ान लेकर उडोगे, तो ऐसा ज्ञान पडेगा कि बलि को नियमन करने के लिए त्रिविक्रमरूप-धारी विष्णु के श्याम चरण ही शोभित हो रहे हैं। विष्णु ने भी तिर्यक् गति के कारण इसी प्रकार का तिरछा पादन्यास किया था।

शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरेषु ध्वनिस्या-
त्संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः ॥ 56 ॥
प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान्विशेषा-
न्हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी
श्यामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः ॥ 57 ॥

"इस तिरश्चीन उड़ान के द्वारा ऊपर उडकर तुम एकदम कैलास के अतिथि हो जाओगे—कैलास, जिसकी सानुदेश की सन्धियाँ दस मुखवाले रावण की बीसो भुजाओ से झकझोर डाली गयी थी, जिसकी स्फटिक-निर्मल चोटियाँ देवागनाओ के दर्पण का काम करती है, और जिसकी कुमुद के समान स्वच्छ ऊँची चोटियाँ आसमान मे व्याप्त होकर इस प्रकार स्थित है, मानो त्रिनयन महादेव ताण्डव-काल मे जो अट्टहास करते हैं, वह प्रतिदिन सचित होता हुआ इस प्रकार पुंजीभूत हो गया है। इस महान् कैलास को देखकर तुम्हारे चित्त मे गरिमा-जन्य श्रद्धा और समृद्धि-जन्य कौतूहल एक ही साथ उदित होगे।"

गत्वा चोर्ध्वं दशमुखभुजोच्छ्वासितप्रस्थसंधेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः।
शृङ्गोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः ॥ 58 ॥

यक्ष की कल्पना-प्रवण आँखो ने शुभ्र कैलास के ऊपर उड़ते हुए मेघ

को देखा। कैसी अपूर्व शोभा थी वह! मेघ की श्यामल कान्ति ऐसी दिखायी दे रही थी, जैसे यत्नपूर्वक मर्दित स्निग्ध अंजन से निखर आयी हुई श्यामल कान्ति हो। जब अंजन काँस्य पात्र पर रखे हुए नवनीत में मिलाकर देर तक मर्दित किया जाता है, तो उसमें एक प्रकार की स्निग्ध-मेदुर श्यामल कान्ति निखर आती है जो गाढ़ कज्जल के वर्ण से थोड़ी हल्की होती है। आषाढ़ के प्रथम जलधर में वैसी ही मोहन कान्ति पायी जाती है। यक्ष कल्पना की आँखों से देख रहा है कि हाथी के दाँत के समान शुभ्र वर्ण के पर्वतशृंग पर स्निग्ध भिन्नांजन कान्तिवाला मेघ छाया हुआ है। बलिहारी है उस मनोहर छवि की! ऐसा जान पड़ता है कि गौर वर्ण के प्रियदर्शन बलरामजी अपने कन्धों पर कोई काला उत्तरीय धारण करके खड़े हैं। आहा, यह शोभा तो 'स्तिमित' नयनों से देखने योग्य है! यक्ष की कल्पनाशील आँखों में यह मनोहर दृश्य टँगा-सा रह गया।

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव ॥ 59 ॥

कैलाश पर्वत हर-गौरी का क्रीडा-निकेतन है। 'शम्भु-रहस्य' में बताया गया है कि चार पर्वतों को शिवजी की क्रीडा के लिए बनाया गया—कैलास, सुमेरु, मन्दर और गन्धमादन। उनमें भी कैलास शिवजी का सबसे प्रिय क्रीडा-शैल है। यहीं शिव और पार्वती का नित्य-विहार चलता रहता है। निखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त शिव और शक्ति की जो रहस्यमयी लीला लोक-चक्षु से अगोचर होकर निरन्तर चल रही है, वही यहाँ प्रत्यक्ष विग्रह धारण करके भक्त जनों को स्पष्ट दिखायी देती है। यहाँ प्रत्येक पिण्ड में चलने-वाली शिव और शक्ति की वह लीला मनोविकारों के रूप में अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाने के इंगित रूप में प्रत्यक्ष हो रही है। असम्भव नहीं कि जब मेघ वहाँ पहुँचे, उसी समय शिवजी अपने सर्पों के कंकण का परित्याग करके गौरी का हाथ पकड़कर इस कैलास पर्वत पर घूम रहे हों। यह भी सम्भव है कि उस समय वे दोनों ही पैदल चंक्रमण के लिए निकल पड़े हों। यदि शिव का कराबलम्ब पाकर गौरी लीलापूर्वक उस क्रीडा-शैल पर विचरण कर रही

हों, तो मेघ का क्या कर्तव्य होता है ? पर्वत-श्रेणियों में उतरने-चढ़ने में उनको कष्ट होता होगा । "देखो मित्र, यह तुम्हारे लिए बहुत ही उपयुक्त अवसर होगा । उस समय तुम अपनी जल-राशि को भीतर ही रोककर अपने वाष्प-निर्मित शरीर को ज़रा कड़ा बना लेना और अपने शरीर को इस भंगिमा में रचित करना कि वह सीढ़ी-जैसा बन जाय । तुम इन्द्र देवता के कामरूप अनुचर हो, तुम्हारे लिए असम्भव क्या है ? अपने अंगों को इस प्रकार मोड़ना कि मणितट पर चढ़नेवाली गौरी के लिए सोपान बन जाय। इससे बढ़कर जीवन को चरितार्थ करने का अवसर तुम्हें कहाँ मिलेगा मित्र ? हर-पार्वती के चरणों से पवित्र होने का अवसर कितने बड़भागियों को मिलता है ।

हित्वा तस्मिन्भुजगवलयं शंभुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च विचरेत्पादचारेण गौरी ।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुःस्तम्भितान्तर्जलौघ-
सोपानत्वं कुरु मणितटारोहणायाग्रयायी ॥ 60 ॥

"एक खतरा भी है । उस क्रीडा-शैल पर कौतुकशीला देवांगनाएँ अपने कंकणों में लगे हुए हीरों की नोक से तुम्हारे शरीर को वेध-वेधकर जल-धारा भी निकालने का प्रयत्न करेंगी । तकलीफ तो तुम्हें होगी ही, लेकिन सुरयुवतियों के इस विनोद में तुम यन्त्रधारा-गृह के समान बन जाओगे। बड़े रईसों के घर में अनेक यत्न के द्वारा जो यन्त्रधारा-गृह बनाये जाते हैं, वे वहाँ अनायास बन जायेंगे । वे छोड़ भी कैसे सकती हैं दोस्त ! इतनी गर्मी के बाद वे तुम्हें पायी रहेंगी । मेरा अनुमान है कि तुम सहज ही नहीं छूट पाओगे । भगवान् जाने, तुम छूटना चाहोगे भी या नहीं ! लेकिन काम तो तुम्हें मेरा करना ही पड़ेगा । यदि उनसे छुटकारा न मिले, तो मैं तुम्हें उपाय भी बताये देता हूँ । इन क्रीडा-चंचल युवतियों से बचने का एक उपाय है । उन्हें ज़रा श्रवण-परुष डरावने गर्जन से भयभीत बना देना । इन भय-त्रस्त तरुणियों का भागना भी तुम्हें कम पसन्द नहीं आयेगा । बस, अब तुरन्त आगे बढ़ जाना ।

तत्रावश्यं वलयकुलिशोद्घट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम् ।

ताभ्यो मोक्षस्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः ॥ 61 ॥

"फिर जो तुम स्वर्ण-कमलों को उत्पन्न करनेवाले मान-सरोवर का जल पीना और ऐरावत के मुँह पर इस प्रकार छा जाना कि मालूम हो किसी ने उसे 'मुख-पट' से सज्जित किया है, और फिर कल्पद्रुम के उन पत्तों को, जो झीने वस्त्रों के समान शोभित हो रहे हों, कँपा देना, और इस प्रकार अनेक प्रकार की ललित क्रीडाओं के द्वारा मन बहलाते हुए उस पर्वतराज कैलास में प्रवेश करना। तुम कामचारी हो, उस कैलास पर्वत की गोद में अलका उसी प्रकार बैठी हुई है, जैसे अपने प्रणयी की गोद में कोई ऐसी सुन्दरी विराज रही हो, जिसका दुकूलपट्ट शिथिल होकर दूसरी ओर सरक गया हो। यह तुम्हें बताने की जरूरत नहीं है कि यही अलकापुरी है। तुम्हारे-जैसे निपुण कामचारी के लिए उसे देखकर पहचान न पाना असम्भव बात है। सातमंजिले मकानों से भरी हुई यह अलकापुरी वर्षा-काल में मेघमाला को उसी प्रकार धारण करती है, जैसे कोई कामिनी मुक्ता-जालग्रथित अलकों को धारण करती है।"

हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य ।
धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं नगेन्द्रम् ॥ 62 ॥
तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन् ।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम् ॥ 63 ॥

शिखर ढूँसा मारनेवाले महावृषभ की सींग पर लगे हुए पंक के समान धूमर कान्ति नहीं धारण कर पाये हैं।

आठ महीने बाद आज पहली बार मेघ अलकापुरी में पहुँचा है। अलका, कैलास की मोहिनी प्रियतमा, प्रकृति-सुन्दरी की कुञ्चित अलकावली, सौन्दर्य-लक्ष्मी के भालपट्ट पर शोभित होनेवाली कस्तूरी की बिन्दी! बीहड़ अरण्यों और दुर्गम शैल-प्रान्तरों को पार करता हुआ, शानदार नगरों और मनोहर उद्यानों को धन्य करता हुआ, उत्तुंग शैल-शिखरों और अभ्रंकष सौध-शृंगों पर विश्राम करता हुआ, देव-मूर्तियों और देव-तीर्थों के दर्शन से कृतार्थ होता हुआ मेघ थके-माँदे तीर्थ-यात्री की भाँति मार्ग की सारी क्लान्ति को भूलकर अपने गन्तव्य स्थान पर आ पहुँचा है। यक्ष के उत्कण्ठा-कातर चित्त में बार-बार यह आशंका हो रही है कि, यह मेघ अलका के महत्त्व को ठीक-ठीक समझ सकेगा कि नहीं। अपनी प्रिय वासभूमि को नित्य निवास करनेवाला व्यक्ति जितने गौरव के साथ देखता है, उतना क्या अजनबी अनुभव कर सकता है? प्रेम और आदर परिचय से उत्पन्न होते हैं। जिसे पहचाना ही नहीं, उसके प्रति प्रेम कैसा और उसके गौरव के सम्बन्ध में आदर भी कैसा? फिर मर्त्यलोक का प्रेमी यह मेघ उस देवपुरी को क्या समझ सकेगा, जिसके बारे में यहाँ अनेक प्रकार की ऊल-जलूल कल्पनाएँ प्रचलित हैं। मर्त्यलोक के भोले लोग यह विश्वास करते हैं कि इस देवपुरी के निवासियों की आँखों से पीड़ा और वेदना के आँसू निकलते ही नहीं। अश्वत्थ की सुकुमार टहनी से जब उसका सूखा हुआ जीर्ण-पत्र चुपचाप खिसक जाता है तो विशाल अश्वत्थ को जितनी हल्की वेदना होती है, उतनी हल्की वेदना भी देवलोक के निवासियों में नहीं दिखायी देती। हाय! हाय! वह लोक कितना नीरस और भोंड़ा होता होगा, जहाँ विरह-वेदना के आँसू निकलते ही नहीं, और प्रिय-वियोग की कल्पना से जहाँ हृदय में ऐसी टीस पैदा ही नहीं होती, जिसे शब्दों में व्यक्त न किया जा सके। यक्ष आज हृदय के अतल गाम्भीर्य से अनुभव कर रहा है कि जहाँ विरह की व्यथा नहीं है वहाँ सरस हृदय का दुर्ललित प्रेम भी नहीं है। आँसू से जीवन तरंगित होता रहता है। पीड़ा से प्रेम पनपा करता है। कहीं ऐसा न हो कि यह भाग्यहीन मेघ उन्हीं भोंड़ी कल्पनाओं में

रँगी हुई दृष्टि से अलका को परखने लगे। अलका में यदि आँसू नहीं हैं तो यक्ष के हृदय की यह सारी पीड़ा मृगमरीचिका से अधिक मूल्य नहीं रखती। ये सारे प्रेमोद्गार, सारी अभिलाष-कातर उत्सुकता और सम्पूर्ण वेदना आडम्बर मात्र हैं।

अनुभयनिष्ठा रति रसाभास है। छाया के पीछे दौड़ना थोथा पागलपन है। परन्तु यक्ष जानता है कि यद्यपि अलका देवपुरी है, मर्त्यलोक की तुलना में वहाँ अनेक विशेषताएँ हैं और उन विशेषताओं को देखकर मर्त्यलोक के क्षणभंगुर जीवन धारण करनेवाले प्राणियों में उद्भट कल्पनाओं का तरंगित हो उठना स्वाभाविक है, तथापि यह कहना कि वहाँ प्रिय-विरह का सन्ताप ही नहीं है, मिलनोत्कण्ठा उत्कम्प ही नहीं है, विरह-विधुर चित्त का विक्षोभ ही नहीं है, सत्य का अपलाप मात्र है। मेघ को ठीक-ठीक समझा देना चाहिए कि अलका क्या है और क्या नहीं है।

इसी समय यक्ष ने देखा कि मेघ में अचानक विद्युल्लता का प्रकाश चमक उठा है। जान पड़ा ऐरावत के उदर-देश में बँधी सुवर्ण-रज्जु ही उद्भासित हो उठी है या क्षण-भर के लिए रामगिरि के शिखर-देश पर स्वच्छ रेशम की पताका फहरा उठी है। यह शुभ-लक्षण है। अलका की बात आते ही मेघ के वक्षस्थल पर उल्लसित होनेवाली यह आनन्दज्योति अलका के हर्म्यों में विराजित होनेवाली मणि-दीपावली की उज्ज्वल रेखा की भाँति दीप्त होकर भावी मंगल की सूचना दे रही है। जो काम सिद्ध होनेवाला होता है, उसमें ऐसे ही चिह्न प्रकट होते हैं। यह बिजली का कौंधना सूचित करता है कि काम बननेवाला है। आशा बड़ी दुरत्यय वस्तु है। कहाँ रामगिरि पर निवास करनेवाला विरही यक्ष का विद्युद्धारी मेघ और कहाँ अलका के सौधों में विराजित होनेवाली मणि-प्रदीपों की अभिराम आभा! लेकिन यक्ष के चित्त में आशा संचरित हो गयी। क्यों ऐसा होता है? जिन वस्तुओं से अभिलषित पदार्थ का रचमात्र भी साम्य होता है, वे हृदयस्थित भाव-राशि में इस प्रकार ज्वार क्यों उठा देती हैं? क्या समस्त जड़-चेतन में व्याप्त कोई अन्तर्निहित चैतन्य-धारा प्रवाहित हो रही है जो मनुष्य के चित्त को निरन्तर उद्वेलित और उद्वेजित करती रहती है। यक्ष के चित्त में बिजली की इस कौंध ने कल्पना के महासमुद्र को मानो

वर्णन कर दिया। यह मेघ अलका के समान ही तो है जिसे देखकर प्रिया की चित्त-वृत्ति की कल्पना स्वभावतः दीप जोहकर प्रकाशित हो उठती है, वह निस्संदेह मैत्री है। यक्ष ने इस रूप में मेघ को देखा। उसका चित्त राग से पूर्ण रूप हो उठा। पूर्ववर्तियों की भाँति उसके भी चित्त में अलका की मनोहारिणी छवि सजीव होकर प्रकट हुई। बोला—

"मेरे प्यारे मित्र, अलकापुरी कैलाश की मनोरमा प्रियतमा है। इस पुरी को देखकर तुम्हें सचमुच आनन्द आयेगा। सच पूछो तो तुम्हारे इस 'नयन-सुभग' रूप का यदि कहीं साम्य है तो केवल अलकापुरी के रम्य प्रासादों में ही। यदि तुम्हारे शरीर में चपल विद्युल्लता का निवास है तो अलकापुरी में वैसी ही हेम-कान्तिवाली ललित वनिताओं का निवास है। तुम्हारे पास मनोमोहक सतरंगा धनुष है तो अलकापुरी के इन प्रासादों में रंग-बिरंग के चित्र भी आलिखित हैं। अलकापुरी में शायद ही ऐसा कोई प्रासाद हो, जिसमें विविध प्रकार के भित्ति-चित्र और वन्य-वल्लियाँ न अंकित हों। कभी-कभी अन्तःपुर की छतों में चित्रित वल्ली-वल्ली ऐसी मनोहर और चौंका देनेवाली होती है कि जान पड़ता है, अन्तःपुरिकाओं के सौन्दर्य को देखने के लिए सारा देव-मण्डल ही सिमटकर आ गया है। इन नयनाभिराम रंग-बिरंगे चित्रों के साथ तुम्हारे हृदय-देश में विराज-मान नयनाभिराम इन्द्रधनुष की तुलना आसानी से की जा सकती है। और यह जो तुम्हारा श्रवण-सुभग गर्जन है, जो जनपद-वधुओं के चित्त में आशा और नागर-रमणियों के चित्त में उत्कण्ठा का भाव जाग्रत करता रहता है, अलका के प्रासादों में निरन्तर ध्वनित होते रहनेवाले मृदंगों के साथ सहज ही तुलनीय हो सकता है। फिर, तुम्हारे सर्वांग में व्याप्त यह जो नील जल-राशि की श्यामल कान्ति दर्शक के चित्त और प्राण को मुग्ध बना देती है, वह भी अलका के उत्तुंग प्रासादों में नितान्त दुर्लभ नहीं है। इन प्रासादों की कुट्टिम भूमियाँ नीलम से बनी हुई हैं, जो इसी प्रकार की मसृण-मेदुर नीली प्रभा बिखेरती रहती हैं और ऊँचाई में तो जिस प्रकार तुम हो उसी प्रकार ये भवन भी हैं। तुम दोनों के शिखर आसमान को खरोंचते रहते हैं; इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि अलकापुरी के प्रासाद सब प्रकार से तुम्हारे ही समान हैं!

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीरघोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ॥ 1 ॥

"अलकापुरी की वधुएँ हाथ में लीला-कमल-धारण किये रहती हैं। मर्त्यलोक में महीयसी राजबालाओं के हाथ में लीला-कमल दे देना रूढ़ि बन गया है। पद्म का पुष्प स्त्री को पद्मिनी समझने में सहायक होता है। 'पद्मिनी' अर्थात् स्त्री-शोभा का सर्वोत्तम अधिष्ठान। यह बड़ी मोहक कल्पना है मित्र ! मैंने पहले ही कहा है कि महामाया की त्रिजगन्मनोहरा शोभा के सर्वोत्तम अधिष्ठान दो ही हैं—नारी और कमलपुष्प। अलका में दोनों अपने सर्वोत्तम रूप में प्राप्त होते हैं। वहाँ की सुन्दरियाँ अपने मनोहर केश-जाल में ताजे कुन्दपुष्पों को ग्रथित करती है और मुखमण्डल पर श्री या ओप लाने के लिए लोध्र-पुष्पों के पराग-चूर्णों का व्यवहार करती हैं। वे चूडा में नवीन कुरबक-पुष्प को धारण करती हैं, कान में आगण्ड विलम्बि-केशर शिरीष-पुष्पों को धारण करती हैं और तुम्हारे आगमन की सूचना-मात्र से उल्लसित हो जानेवाले कदम्ब के केशर-प्रसरवाले पुष्पों को सीमन्त के अग्रभाग में लटका लिया करती हैं। तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा मित्र, कि ये सभी फूल एक ही समय कैसे मिल जाते हैं, परन्तु अलका विचित्र पुरी है। वहाँ सब ऋतुओं के फूल सब समय खिले रहते हैं।

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामानने श्रीः ।
चूडापाशे नवकुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम् ॥ 2 ॥

"लोग ऐसा समझते हैं कि इस पुरी में ऐसे बहुत-से वृक्ष मिलेंगे, जो मत्त भ्रमरों के गुंजार से सदा मुखरित बने रहते हैं, क्योंकि उनमें सदा-सर्वदा पुष्प लगे रहते हैं; फिर, यहाँ की कमलिनियों में नित्य ही कमल खिले रहते हैं और नित्य हंस-श्रेणी से घिरी रहने के कारण ऐसा लगता है कि ये कमलिनियाँ हंस-श्रेणी की ही करधनी धारण किये हुए हैं। साधारणतः मयूर मेघ-माला को देखकर मत्त होते हैं और अपनी मधुर

केवल वे [illegible] करते हैं, परन्तु अलकापुरी की यह विशेषता बतायी जाती है कि वहाँ के घरों के पालतू मोर, जो क्रीड़ा-पर्वतों पर विचरण किया करते हैं और सुन्दरियों के करतालध्वनि की ध्वनि से भी बोल पड़ते हैं, नित्य कलकंठ और मनोहर बर्ह (मयूर-पिच्छ) से सुशोभित रहते हैं। और तो और, यह भी कहा जाता है कि अलकापुरी में नित्य ज्योत्स्ना बनी रहती है। इसीलिए वहाँ का सन्ध्याकाल उतना अन्धकारमय नहीं होता, जितना अन्य स्थानों के कृष्ण-पक्ष में हो जाया करता है।

> यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखरा पादपा नित्यपुष्पा
> हंसश्रेणीरचितरसना नित्यपद्मा नलिन्य ।
> केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
> नित्यज्योत्स्नाप्रतिहततमोवृत्तिरम्या प्रदोषा ॥

"यहाँ तक तो फिर भी ठीक है। अलका वस्तुत प्रकृति की दुलारी पुरी है, यहाँ सचमुच ही नित्य वसन्त है। किन्तु ऐसा भी कहते सुना है कि इस विचित्र अलकापुरी में किसी की आँखों में आँसू आते हैं तो केवल आनन्दोद्रेक के कारण ही, किसी अन्य दुःख-जनित हेतु से नहीं, शरीर में ताप अगर होता है तो केवल पुष्पों का अस्त्र धारण करनेवाले देवता के बाणों की चोट से ही उत्पन्न होता है, जो प्रियजन के मिलन से शान्त भी हो जाता है, प्रेमियों में यहाँ कहीं विछोह तो होता ही नहीं, यदि कदाचित् कहीं हो भी जाय तो यही समझना चाहिए कि प्रणय-कलह से उत्पन्न यह क्षणिक वियोग है, और अपार सम्पत्ति के मालिक इन यक्षों के शरीर में युवावस्था के अतिरिक्त और कोई अवस्था आती ही नहीं। यह यक्षपुरी की भोंडी कल्पना है। अलका इससे भिन्न है। वहाँ प्रेम-व्याकुल हृदयों में पीड़ा भी है, ललक भी है, वेदना भी है और उन्माद भी। यह और बात है कि वहाँ प्रकृति के दिये हुए साधन इन मानस भावों के उतार-चढ़ाव में विलक्षण ढंग से काम करते हैं। वहाँ की स्वच्छ स्फटिक मणियों की उपरली कुट्टिम भूमि में नक्षत्रों की छाया इतनी सफाई से पड़ती है कि वहाँ के प्रेमिक-युगल अनायास ज्योतिर्मयी छाया के पुष्पों से चित्रित बने हुए-से स्वच्छ विस्तर पा जाते हैं, हाथ से ही तोड़ लिये जाने योग्य पुष्प-स्तवकों की भवरीली छाया के नीचे वहाँ की कुंकुम-वर्ण किशोरियाँ मन्दाकिनी की

फुहारों से शीतल बनी हुई मन्द-मन्द सचारी वायु के स्पर्श से पुलकित होकर रत्न-वालुकाओं से क्रीड़ा किया करती हैं। मर्त्यलोक में ये सारी चीजें बहुत मूल्यवान् मानी जाती हैं, पर अलका में तो हर गली-कूचे मिल जाती हैं। यदि इन सुन्दर यक्ष-यक्षिणियों के दर्शन के लिए देवता भी व्याकुल रहा करते हैं तो आश्चर्य ही क्या है! देवलोक में ये वस्तुएँ अलभ्य हैं और इन पर्वत-कन्याओं के सहज लीला-विलास में तो पार्वती की सहज लीला ही मूर्तिमती हो उठी है। वक्रिम विलास के हेला-विब्बोक और कुट्टमितों से जिन मर्त्यवासियों की दृष्टि सहज और पवित्र सौन्दर्य को समझ नहीं सकती, वह इन निसर्ग-कुमारियों के रूप-लावण्य के सम्बन्ध में भोंडी कल्पनाएँ करने लगें तो आश्चर्य ही क्या है! अलकापुरी नैसर्गिक शोभा का अक्षय निर्झर है, जड़ जगत् में भी और चेतन जगत् में भी।

आनन्दोत्थं नयन-सलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै-
र्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥*

"फिर भी मेरे मित्र, अलका मर्त्यवासियों की दृष्टि में स्वप्नपुरी ही है। पूर्वकाल-संचित कर्म का भोग करनेवाले देव-योनि के लोग इस पुरी में निवास करते हैं। इसलिए वे निरन्तर सुखोपभोग के बहुमूल्य साधनों का व्यवहार करते रहते हैं। उनके निवास-स्थान स्फटिक मणियों के बने होते हैं, जिनके सहन में स्फटिक मणियों की ही कुट्टिमभूमि श्वेत आस्तरण के समान फैली होती है। रात को जब आसमान के नक्षत्र इस कुट्टिम-भूमि में छाया के रूप में प्रतिफलित होते हैं, तो ऐसा जान पड़ता है कि सफेद चादर पर किसी ने सफेद फूल बिछा रखे हैं। कहना नहीं होगा कि यह नैसर्गिक आस्तरण कभी मैला नहीं होता। मर्त्यलोक में बिछाई जानेवाली चादरों और सफेद फूलों से इसकी तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि मर्त्यलोक की चादरें मैली हो जाया करती हैं और फूल कुम्हला जाया करते हैं। लेकिन यह

*यह और इसके पहले का श्लोक प्रक्षिप्त है। कई संस्कृत टीकाकारों ने इनकी टीका नहीं की है।

अद्‌भुत चादर न तो मैली होती है और न इसके फूल कुम्हलाते ही हैं। ऐसी चादर पर अलकापुरी के यक्ष लोग दिव्याङ्गनाओं के साथ नृत्य और संगीत का सुख अनुभव करते हैं। और मन्द-मन्द भाव से ताड्यमान पुष्कर नामक बाजे की गम्भीर ध्वनि—जो बहुत-कुछ तुम्हारे गर्जन के समान ही है—की पृष्ठभूमि में नूपुर की झंकार और कंकण-वलयों के रणत्कार का रस लिया करते हैं। तुम जानते ही हो कि वहाँ कल्पवृक्ष नाम का समस्त कामनाओं को पूरा करनेवाला और इच्छा-मात्र से समस्त अभिलषित का दान करनेवाला अद्‌भुत वृक्ष है। मर्त्यवासियों के लिए इस वृक्ष का महत्त्व समझना कठिन है। इसी कल्पवृक्ष से उद्‌भूत रति-फल नामक मदिरा भी यक्ष-प्रेमियों को अनायास प्राप्त हो जाती है। एक बार कल्पना करो मित्र, विशाल-हर्म्यों के आँगन की कुट्टिम-भूमि पर अविराम भाव से बिछी हुई तारकावलि की छाया, दिव्य प्रेमिक-युगलों का उस पर अवस्थान और मन्द-मन्द भाव से गम्भीर ध्वनि करनेवाले 'पुष्कर' नामक बाजों के गम्भीर निर्घोष की पृष्ठभूमि में नृत्य करनेवाली अप्सराओं के कंकण-वलयों का रणत्कार और नूपुर और मेखला-किंकिणियों का झणत्कार और फिर अनायास-लब्ध मादक आसव का चषक!!

यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छायाकुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः ।
आसेवन्ते मधु रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतं
त्वद्गम्भीरध्वनिषु शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥ 3 ॥

"तुम आसानी से समझ सकते हो मित्र, कि यह अलकानगरी कितनी मोहक है। वहाँ की कन्याएँ मन्दाकिनी के जल की फुहारों से ठण्डी बनी हुई हवा में उसी के तट पर खड़े मन्दारवृक्षों की शीतल छाया में मुट्ठियों में बहुमूल्य मणियों को लेकर स्वर्ण-बालुकाओं में छिपाया करती हैं और उन्हें खोज निकालने का खेल खेला करती हैं। यह अयत्न-सम्य सुकुमार और बहुमूल्य क्रीडा अन्यत्र कहाँ मिल सकती है? दूर तक फैली हुई मन्दाकिनी की पुलिन-भूमि पर जो बालुका-राशि वहाँ फैली हुई है, वह सोने के कणों से इतनी भरी रहती है कि समूची सैकत-भूमि पीली सुनहली आभा से सदा देदीप्यमान रहती है। मर्त्यलोक में कुछ थोड़े-

वे ही अवसर आने पर उन्हें धोखा दे देते हैं और लज्जा की रक्तिमा को सौ गुना बढ़ा देते हैं।

नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र बिम्बाधराणां
क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गानभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥ 5 ॥

"मित्र, अलकापुरी एक तो यों ही बहुत ऊँचे पर्वतों पर बसी है, दूसरे वहाँ के धनाधिपतियों ने सतमंजिले मकान बना रखे हैं। इन सतमंजिले मकानों को 'विमान' कहा जाता है। अलका के रसिक नागर अपने विशाल भवनों में भित्ति-चित्र अंकित करने में बड़ा आनन्द पाते हैं। उनकी दीवालें स्फटिक-मणि के समान स्वच्छ और दर्पण के समान उज्जवल हैं और उन पर 'सूक्ष्मरेखा-विशारद' कलाकार नाना रसों के चित्र अंकित करते हैं। दीवालों को पहले समान करके चूने से मजबूत बनाया जाता है, जिस पर भैंस के चमड़े को पानी में घोटकर और अन्य मसालों के संयोग से बना एक विशेष द्रव्य पोता जाता है। ये कलाकार एक ऐसा 'वज्रलेप' बनाते हैं जो गर्म करने पर पिघल जाता है और दीवाल पर पोतने के बाद तत्काल सूख जाता है। इस वज्रलेप में सफेद मिट्टी या शंख का चूर्ण और मिश्री मिलाकर सफेद रंग की चिकनी जमीन बनायी जाती है। रंगीन जमीन बनाने के लिए और भी मसालों का उपयोग होता है। दक्षिणी भारत में नीलगिरि पर जिस प्रकार 'नग' नामक सफेद पत्थर होता है, उसी से मिलता-जुलता स्फटिक-चूर्ण अलका के इर्द-गिर्द प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अलका के शिल्पी 'वज्रलेप' में इन्हीं चूर्णों का प्रयोग करते हैं। मर्त्यलोक के कलाकार ईंट का चूर्ण, गुग्गुल, मोम, महुए का रस, मुसक, गुड़, कुसुम का तेल और चूने को घोटकर उसमें दो भाग कच्चे बेल का चूर्ण मिलाते हैं, फिर अन्दाज से उचित मात्रा में भीत पर एक महीने तक धीरे-धीरे पोतते हैं और इस प्रकार वज्रलेप की भूमि को स्थायी रूप से रंगीन बनाने का प्रयत्न करते हैं। यद्यपि अलका में सभी प्रकार की समृद्धि है, पर ये मामूली चीजें वहाँ पर आसानी से नहीं मिलतीं। इसीलिए वज्रलेप की भित्तियों पर जो रंग चढ़ाये जाते हैं, वे उतने स्थायी

नहीं हो पाते। लेकिन 'अलका' के 'विद्युत्-विमान' में कुहासा बनाकर इनसे छुटकारा नहीं होता। प्रतिदिन तुम्हारे-जैसे सैकड़ों मेघ वायु के झोंकों के साथ उन गगनचुम्बी मकानों के भीतर घुस जाते हैं और उन सुन्दर चित्रों को गीला कर देते हैं। गीला होने से चित्र बिगड़ जाते हैं और अलका के कलाकारों को प्रतिदिन उन्हें फिर नया करना पड़ता है। नित्य निर्माण का जो उल्लास है, उसी का स्थायित्व इन चतुर चितेरों का काम्य है। अनन्त काल तक रंगों का बना रहना सर्वलोक के साधारण चित्रकारों का काम्य हो सकता है, परन्तु जिन्हें दीर्घकाल तक नित्य-नवीन रूप-सृष्टि का उल्लास प्राप्त है उन शिल्पियों की बात ही और है। वे निर्माण के उल्लास को ही अधिक महत्त्व देते हैं, निर्माण के स्थायित्व को नहीं। तुम्हारे-जैसे चपल मेघों की विनाशकारी प्रवृत्तियों से उन्हें नव-नव रूप-निर्माण की प्रेरणा मिलती रहती है। वे इन हरकतों से बहुत चिन्तित नहीं होते। पर जो लोग उन भवनों में निवास करते हैं, वे इस विनाश-कृत्य से क्षुब्ध होते हैं। सुन्दर-मनोहर चित्रों को नवीन जलकणों से दूषित करना बहुत अच्छी बात नहीं है। चपल मेघ भी उनके क्षोभ को समझते हैं। यही कारण है कि चोर की भाँति घरों में घुसकर चित्रों को नष्ट करके चोर की ही भाँति दूसरी खिड़की से निकल जाते हैं। इतने ऊँचे महलों में घुसते समय कोई भी क्षीण-जर्जर हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु तुम्हारी जाति के लोग चतुर कलाबाज की तरह धुएँ की आकृति बनाकर भाग खड़े होते हैं। इन मेघों का चोर और जार की तरह घर में घुस पड़ना और मार खाने की आशंका से भाग खड़े होने की तरह निकल पड़ना, कोई उचित काम नहीं है। इसीलिए ज़रा तुम्हें सावधान होकर चलना होगा। लोलुप रसिक की भाँति अगर घर में घुस पड़े तो पिट जा सकते हो—धुएँ की शक्ल बनाओ तो और न बनाओ तो, जर्जर हो जाने की आशंका तो बनी ही रहेगी!

> नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
> रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
> शंकास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
> र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥ 6 ॥

"लेकिन साहस से सिद्धि बनती है। तुम्हें यदि घने बाँस की नलिका के आगे ताँबे के सूच्यग्र 'निन्दुक' की, जो जौ-भर भीतर और जौ-भर बाहर निकला रहता है, तथा उसमें लगी हुई बछड़े के कान के पास के मुलायम रोमों से बनी हुई तूलिका की करामात देखनी है तो साहस करना ही पड़ेगा। इन भवनों की ऊपरी छतों पर बनी हुई कला-वल्लियाँ देखते ही बनती हैं। दीवालों के चित्र और छतों की कला-वल्लियाँ इस प्रकार से अंकित होती हैं कि उन्हें देखकर भ्रम होता है कि देवताओं और मनुष्यों में जो सबसे सुन्दर और स्पृहणीय है, मानो अलका की अन्तःपुरनिवासिनियों का सौन्दर्य देखने के लिए सिमटकर एकत्र हो गये हैं। धारावाहिक लता-प्रतानों के भीतर से अंकुर और पत्र के रूप में निकले हुए सिद्ध-विद्याधरों के चित्र इतने मनोहर होते हैं कि नवीन दर्शक को भ्रम हो जाता है कि लताओं की ओट में छिपे हुए सौन्दर्यलोलुप देवगण उचककर कुछ देखने का प्रयास कर रहे हैं और पकड़े जाने की आशंका से फिर उन्हीं लताओं में छिप जाने को उद्यत हैं। इस शोभा को बिना देखे कैसे रहा जा सकता है? मर्त्यलोक में विचरण करते समय तुमने उज्जयिनी के उत्तर के प्रदेशों में जो कला-वल्लियाँ देखी हैं, उनमें मनुष्य की कामनाओं के कल्पित चित्र हैं। वे अपनी ऊँची उड़ान के कारण आकर्षक लगते हैं, लेकिन अलकापुरी की इन वल्लियों में यथार्थ चित्र है और निर्माण का कौशल ही उनका मुख्य आकर्षण है। यह विचित्र बात है मित्र, कि मर्त्यलोक के कलाकारों में अपनी कला को अमर बना देने की लालसा है, लेकिन अलकापुरी की कला-वल्लियों में स्वर्गलोक में कहीं न प्राप्त होनेवाली लालसा को जागरित करने का प्रयास है। तुम दोनों का अन्तर समझ सकोगे, क्योंकि तुम जहाँ एक ओर भुवन-विदित पुष्करावर्त के देव-वंश में उत्पन्न हुए हो, वहीं तुमने अपने चरित्र से यह सिद्ध कर दिया है कि अपने को निश्शेष भाव से मिटा-कर नित्य बनते रहनेवाले नव-नव रूपों में उत्पन्न होते रहना ही सच्ची अमरता है। अलका के चित्रकारों को अपने शरीर के आवरण में जो नवीनता नहीं मिलती, उसे वे नित्य मिट-मिटकर बननेवाले चित्रों में पकड़ना चाहते हैं। इस आठ महीने के शाप-ग्रस्त जीवन में मैंने यह अनुभव किया है कि मर्त्यलोक की ऊर्ध्वगामिनी कल्पना के धनी शिल्पी सचमुच धन्य हैं,

बिल्कुल देवपुरी से थोड़ा घटकर है। उसमें विलास-साधन तो सुलभ है, किन्तु लालसा-लोल और अनुराग-चंचल मनोविकार एकदम अप्राप्य नहीं है।

> यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजालिङ्गनोच्छ्वासितानां—
> मङ्गग्लानि सुरतजनिता तन्तुजालावलम्बा ।
> त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
> व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ता ॥ 7 ॥
> अक्षय्यान्तर्भवननिधय प्रत्यह रक्तकण्ठै—
> रुद्गायद्भिर्धनपतियश. किन्नरैर्यत्र सार्धम् ।
> वैभ्राजाख्य विबुधवनितावारमुख्यासहाया
> बद्धालापा बहिरुपवन कामिनो निर्विशन्ति ॥ 8 ॥

"उज्जयिनी तो तुमने देखी है मित्र, वहाँ रात को जब प्रणयमुग्धा कामिनियाँ घने अन्धकार में तेजी से अभिसारयात्रा पर निकलती हैं, तो उनके केश-पाश से सुकुमार भाव से गुंथे हुए पुष्प और किसलय खिसककर सड़कों पर गिर जाते हैं। कानों में लगे हुए मनोहर सोने के कर्ण-फूल चू पड़ते हैं और मोतियों की माला क्वचित् क्वचित् टूटकर बिखर भी जाती है। उज्जयिनी के सहृदय नागरिक सूर्योदय के समय जब इन बिखरी हुई वस्तुओं को देखते हैं, तो उन्हें यह समझने में देर नहीं लगती कि इस मार्ग से मूर्तिमान अनुराग और औत्सुक्य निकला है। उनके संवेदनशील हृदय में भी अनुराग और औत्सुक्य का कम्पन अनुभव होता है। यह विचित्र रहस्य है मित्र, कि अनुमान से जाना हुआ अज्ञात हृदय का अनुराग किस प्रकार संवेदनशील अन्य हृदयों में भी अकारण कम्पन उत्पन्न कर देता है। क्या यह इस बात का सबूत नहीं है कि एक ही दुर्ललित शक्ति मनुष्य-मात्र के हृदय में निवास कर रही है और रत्तमात्र के इंगित से ही वह उसी प्रकार उद्वेल हो उठती है जिस प्रकार चन्द्रमा को देखकर महासमुद्र उद्वेलित हो उठता है! कौन कह सकता है कि इन छोटी-छोटी घटनाओं में भुवन-मोहिनी का अद्वैत विलास निरन्तर उद्घाटित नहीं होता रहता? अलका के मार्गों में भी तेज चाल और जोर की धड़कन का अनुमान तुम इन वस्तुओं से लगा सकते हो। तुम वहाँ साधारण पुष्पों के स्थान पर केश-पाश-स्खलित

मन्दारपुष्पों को देखोगे, साधारण वर्णकूप में स्थान पर कान से गिरे हुए कनक-कमलों को देखकर चकित हो जाओगे, और हारों के टूटे हुए धागों से बिखरी हुई महार्घ मणियों को देखकर अचरज में पड़ जाओगे। परन्तु अलका में ये वस्तुएँ दुर्लभ नहीं हैं। दुर्लभ हैं तो भीत-भीत भाव, क्षण-भंगुर लालसाओं का उच्छ्वास और अकारण चञ्चल रहनेवाली आँखों की लीला। बाकी सब दृश्य तुम्हें उज्जयिनी के घनान्धकार में गुजरे हुए अनुराग से उच्छ्वसित हृदयों की ही सूचना देंगे। मर्त्यवासियों की दृष्टि से देखना। उन अमरों की आँखों में क्या देखोगे, जिनके पलक कभी गिरते ही नहीं! पलक लज्जा के भार से झुकते हैं, उत्सुकता के आवेग से चंचल होते हैं और आश्चर्य के आवेश से विचलित होते हैं। पलकों की गति मर्त्यलोक के निवासियों की सबसे बड़ी निधि है। जिन पलकों में भार नहीं, चांचल्य नहीं और जड़िमा नहीं, वे भी क्या पलक हैं? उनमें लीला-विलास तरंगित नहीं होता, औत्सुक्य के भाव उद्वेल नहीं होते और शोभा की तरंगें लहराती नहीं। लेकिन यदि तुम मेरे समान शाप-ग्रस्त लोगों की दृष्टि से देखोगे या क्षण-भंगुर मर्त्यवासियों के निरन्तर अतृप्त नयनों से उनका रस-ग्रहण करना चाहोगे, तो गत्युत्कम्प-वश स्खलित मन्दार पुष्पों में, कनक-कमलों में और मुक्ताजालों में अपूर्व कम्पन उत्पन्न करनेवाली वह लालसा प्रत्यक्ष दृष्टि-गोचर होगी, जो इस लोक में बसनेवाले प्राणियों की अक्षय निधि है और जिसमें भुवन-मोहिनी का त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप निरंतर उद्भासित होता रहता है।

> गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
> पत्रच्छेदैः कनककमलैः कर्णविभ्रंशिभिश्च ।
> मुक्ताजालैः स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च हारैः—
> र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम् ॥ 9 ॥

"मित्र, कुबेर के मित्र और पूज्य भगवान् महादेव जहाँ निवास करते हैं, वहाँ पहुँचने की हिम्मत भौंरों की डोरीवाले धनुष्य के अधिकारी कामदेव में नहीं है। उसकी मधुकर-श्रेणी की बनी हुई यह प्रत्यचा वहाँ खींचने से पहले ही टूट जाती है। परन्तु यह गन्धर्वपुरी कामदेव की अपनी नगरी है, वहाँ उसे अधिक प्रयास नहीं करना पड़ता। वहाँ की चतुर वनिताओं के

विभ्रम से ही उसका काम सिद्ध हो जाता है। चतुर वनिताओं का विभ्रम, जिसमें भ्रू-भंग के साथ प्रयुक्त नयन ही अमोघ अस्त्र का काम करते हैं। मनोजन्मा देवता भीत-भीत भाव से संचरण करता हुआ भी अपना काम अनायास बना लेता है। कहाँ मर्त्यवासियों के चित्त में अजस्र भाव से उत्पन्न होनेवाली विविध कामनाओं का चित्तोन्मथी प्रकोप और कहाँ भीत-भीत भाव से संचरण करनेवाले मनोजन्मा देवता की कातर-साहाय्य प्रार्थना! दोनों में बड़ा अन्तर है मित्र!

> मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं
> प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्।
> सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघै-
> स्तस्यारम्भश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः ॥ 10 ॥

"मुझे आशंका हो रही है मित्र, कि तुम मेरी बातों को ठीक ठीक समझ रहे हो या नहीं। सौन्दर्य क्या है? क्या शरीर में जो शोभा-विधायक धर्म हैं, वे अपने-आप में सौन्दर्य कहला सकते हैं? शरीर की विभिन्न अवयवों की रेखा में जो स्पष्टता होती है उसे 'रूप' कहते हैं, आँखों को विभिन्न प्रकार की स्निग्धताओं से तृप्त करनेवाले रंगों को 'वर्ण' कहते हैं विशिष्ट प्रकार की चमक या चाकचिक्य से जो कान्ति उत्पन्न होती है, उसे 'प्रभा' कहते हैं; अधरों पर सहज भाव से खेलती रहनेवाली हँसी के कारण जिस धर्म से सहृदयों की दृष्टि आकर्षित हो जाती है उसे राग कहते हैं; फूल के समान मृदुता और कोमलता को धारण करनेवाला वह गुण जो चित्त में एक प्रकार की स्पर्शजन्य आनन्द की गुदगुदी उत्पन्न करता है, 'आभिजात्य' कहलाता है, अंग-उपांग में निरन्तर नव-यौवन के विलास से प्रकट होते रहनेवाली विभ्रम-विलास नामक धर्म 'विलास' कटाक्ष, भ्रूक्षेप इत्यादि का समुचित मात्रा में प्रयोग रहता है, 'विच्छित्ति' कहलाती है; चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक उस मधुर स्निग्ध धर्म को, जो शारीरिक अवयवों के उचित सन्निवेश से व्यंजित होता रहता है 'लावण्य' कहते हैं; सुघड़ व्यवहार और परिपाटी को व्यक्त करनेवाली शोभा 'छाया' कहलाती है; यह सहज-रूप गुण ही जिनका सहज रूप है उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर खिंच

आते हैं, वशीकरण धर्म है जिसे 'सौभाग्य' कहते हैं। पूर्वजन्म के अनेक पुण्यों के परिणाम से मर्त्यलोकवासियों में से किसी-किसी को इन दस में से थोड़े मिलते हैं। सब यहाँ मिल पाते हैं ? अलका में ये दसों धर्म अनायास प्राप्त होते रहते हैं। मर्त्यलोकवासी इन गुणों की न्यूनताओं को उस परम-पवित्र मानस-सम्पत्ति से उत्पन्न कर लिया करते हैं, जिसे 'प्रीति' कहते हैं। 'प्रीति' का सहज धर्म है अप्राप्त गुणों को अनायास उत्पन्न कर लेना। मर्त्यलोक में वह सुलभ है। यही इस लोक की विशेषता है। मर्त्यलोक के निवासी अनेक प्रकार के आभरणों की योजना करके सहज-लभ्य गुणों के अभाव की पूर्ति कर लेते हैं। ये आभरण अनेक प्रकार के हैं। कुछ केशों में पहने जाते हैं, कुछ शरीर पर धारण किये जाते हैं, कुछ वस्त्रों और अन्य बाह्य वस्तुओं की भाँति आरोप कर लिये जाते हैं और कुछ सुगन्धित द्रव्यों के योग से उत्पन्न कर लिये जाते हैं। अलका में इनके लिए विशेष प्रयत्न की जरूरत नहीं होती। वहाँ रंग-विरंगे वस्त्र, नयनों में विभ्रम उत्पन्न करने-वाली मदिरा, कोमल पत्ते तथा फूल-पौधों से लगाये जानेवाले महावर आदि सभी प्राकृतिक साधन कल्पवृक्ष ही दे दिया करता है। मर्त्यलोक के शिल्पी इनके लिए कितना प्रयास करते हैं ? ताटंक, कुण्डल, कर्णवलय आदि अलकार अंगों को बेधकर पहने जाते हैं, इसीलिए 'आवेध्य' कहलाते हैं। अगद, कुंकुम, श्रोणीसूत्र या करधनी, चूड़ामणि आदि अलंकार बाँध-कर पहने जाते हैं, इसलिए इन्हें 'निबन्धनीय' कहा जाता है। उर्मिका, मंजीर, नूपुर आदि अलंकार प्रक्षेपपूर्वक पहने जाते हैं, इसलिए 'प्रक्षेप्य' कहे जाते हैं। झूलती हुई मालतीमाला, पुष्प-स्तवकों के अभिराम हार, मणि-खचित नक्षत्रमालिका आदि अलकार शरीर पर आरोपित कर लिये जाते है, इसलिए ये 'आरोप्य' कहलाते हैं। इनके लिए कितने प्रकार के रत्न, स्वर्ण, मण्डनद्रव्य और कितनी प्रकार की शिल्प-कलाओं का आविष्कार किया गया है ! जो नहीं है उसे पा लेने की अमर लालसा मर्त्यवासियों की विशेषता है। किन्तु जैसा कि मैंने तुमसे पहले ही कह रखा है, अलकापुरी विशुद्ध देवपुरी भी नहीं है। वह स्वर्ग और मर्त्य के बीच की कड़ी है। वहाँ जो लालसा है उसकी पूर्ति अनायास ही हो जाती है। उस प्राप्ति में आरम्भ नहीं है, प्रयत्न नहीं है और उद्यम का उल्लास नहीं है।

ऐसे ही मोहक लोक में तुम्हें जाना है। उस कल्पवृक्ष के देश में समस्त मण्डन द्रव्य अनायास प्राप्त होते रहते हैं।

> वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
> पुष्पोद्भेदं सह किसलयैर्भूषणानां विकल्पान्।
> लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्या-
> मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ 11 ॥

"परन्तु क्या सौन्दर्य इतना ही है? ये सब शोभा के परिकर और उपकरण-मात्र हैं। शोभा का मूल उत्स तो आत्मदान में है। जहाँ अपने-आपको दलित द्राक्षा की तरह निचोड़कर समर्पित कर देने की प्रवृत्ति नहीं है वहाँ वक्षधार्य, देहधार्य, परिधेय और विलेपन जैसे मण्डन द्रव्यों के निरन्तर प्राप्त होते रहने पर भी और रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, छाया और सौभाग्य के सुलभ होते रहने पर भी सच्चा सौन्दर्य नहीं बन पाता। अलका के गली-कूचों में बिखरे हुए रूप-वर्ण के अलंकार और मण्डन द्रव्यों को देखकर तुम यह न समझ बैठना, कि यहाँ सचमुच सौन्दर्य का निवास है। सौन्दर्य को देखना हो, तो तुम्हें थोड़ा प्रयास करना होगा, तुम्हें उस स्थान को खोजना होगा, जहाँ शाप-ग्रस्त व्यक्ति के चित्त में निरन्तर उद्वेल होती रहनेवाली अतृप्त लालसा व्याकुल भाव से किसी की प्रतीक्षा में सर्वस्व लौटा देने को प्रस्तुत है। वहीं तुम्हें जाना है, वही तुम्हारा लक्ष्य है, वही भेजना मेरी समस्त प्रार्थनाओं का उद्देश्य है। अलका में भी तुम्हें निष्कलुष प्रेम का समुद्र लहराता दिखायी देगा, आनन्द-निष्यन्दी अश्रुराशि की करुणाप्लावित धारा बहती मिलेगी, वियोग-विधुर चित्त के तप से विशुद्ध बना हुआ अनुराग दमकता दिखेगा। क्योंकि यहाँ भी देवता के कोप से शाप-ग्रस्त प्रणयी मिल जाते हैं, जो मर्त्यवासियों के समानधर्मा होते हैं। वे सचमुच धन्य हैं।

"अलका में सबसे समृद्धिशाली भवन यक्षाधिपति कुबेर का है, उसे पहचानने में तुम्हें कठिनाई नहीं होगी। उसके थोड़े ही उत्तर में मेरा घर है। दूर से ही उसका इन्द्रधनुष के समान तोरण दिखायी देता है। इस रंगीन तोरण को देखकर तुम आसानी से उसे पहचान लोगे। उसके पास ही एक छोटा-सा मन्दारवृक्ष है, जिसे मेरी प्रिया ने पुत्रवत् पाल रखा है।

तुम उसे देखते ही पहचान जाओगे, उसके मजरी ने पुष्प-स्तवक धरती पर झुके होंगे। अभी बच्चा ही तो है। लेकिन बड़ा शानदार है उसके पुष्प-स्तवक की भवरीली शोभा ! हाथ से ही ये फूल प्राप्त कर लिये जा सकते हैं, क्योंकि बहुत ऊँचे पर नही खिले हैं। श्वेत चूर्ण से पुते हुए मोटे और चिकन हरे पत्तो की घनी छाया मे झूलते हुए बैंगनी फूलों के गुच्छों की शोभा देखते ही बनेगी। कितने यत्न से प्रिया ने इसका लालन किया है, कितनी साध से इसे पाला है और कितने स्नेह से इसका सेचन किया है ! स्नेह-रस ही वास्तविक शोभा का उत्पादक है। इस हस्त-प्राप्य स्तवक-नमित बाल मन्दारवृक्ष को देखकर तुम मेरे घर को आसानी से पहचान लोगे।

> तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं
> दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
> यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
> हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ 12 ॥

"इसके भीतर एक बावडी है, जिसकी सीढियाँ हरी-हरी मरकत-मणियो से बाँधी गयी हैं। उसमें मार्जार-नेत्र के समान कृष्ण-कपिश और चिकनी वैदूर्यमणि के मृणालवाले इतने स्वर्ण-कमल खिले होंगे, कि उसका पानी दिखायी नही देता होगा। सुवर्ण-कमलो की घनी छाया से सारी बावडी ढँक-सी गयी होगी। इस बावडी मे आकर बस गये हस सारी चिन्ता भूलकर वही के हो जाते हैं; निकट ही जो उनका प्रिय गन्तव्य मानसरोवर है, वहाँ जाने की फिक्र उन्हें बिलकुल नही होती। तुम्हारे इस श्यामल मेदुर रूप को देखकर हस न जाने किस दुर्वार अभिलाषा से चंचल होकर मानस-सरोवर की ओर जाने के लिए व्याकुल हो उठते हैं। तुम्हें यह देखकर आश्चर्य होगा मित्र, कि मेरे घर की बावडीवाले हस तुम्हें देखकर भी मानस-सरोवर को नही जाना चाहेंगे। शायद तुम पहली बार अपनी पराजय देखोगे, पर बुरा न मानना सखे, यह सब तुम्हारी भाभी की अपूर्व स्नेह-सरस छाया का प्रभाव है। भुवनमोहिनी प्राणि-मात्र के चित्त मे जिस सुकुमार चाचल्य को नित्य उल्लसित करती रहती हैं, उनका सुकुमारतम विलास तुम्हारी भाभी के स्नेह-मेदुर हृदय मे आविर्भूत हुआ

है। इस स्नेह का स्पर्श पाकर यदि हम वेष्टित हो गये हैं, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जहाँ तुम्हारे इस मनोहर नयन-सुभग रूप को देखकर भी हम व्याकुल न हो उठे हों, वहीं मानसरमैक शोभन रूप है, वहीं मेरी प्रिया रहती है। इस अद्भुत चिह्न को भूल न जाना, गाँठ बाँध लो।

वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना विकचकमलैः स्निग्धवैदूर्यनालैः ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसा ॥ 13 ॥

"उस बावड़ी के तट पर सुन्दर इन्द्रनीलमणियों से बने हुए शिखर-वाला एक क्रीड़ा-पर्वत है, जिसके चारों ओर कनक-कदली का घेरा लगा हुआ है। यह क्रीड़ा-पर्वत मेरी गृहिणी को बड़ा प्यारा है और सही तो यह है मित्र, कि जब मैं तुम्हारे इस नीले शरीर के किनारों पर बिजली की कौंध देखता हूँ, तो कनक-कदली से वेष्टित नीलम के शिखरवाले उस क्रीड़ा-पर्वत की बात ही स्मरण करने लगता हूँ। एक-एक बार तो मेरा यह चित्त इतना कातर हो उठता है कि तुम्हीं को वह क्रीड़ा-पर्वत समझ लेता हूँ। रह-रहकर मेरे चित्त का यह विक्षेप मुझे पागल बना देता है। क्या मैं सचमुच पागल हो गया हूँ? तुम्हारे समान हितू को क्रीड़ा-पर्वत मान लेना पागलपन ही तो है! जो, जो नहीं है उसे वही समझ बैठना विक्षिप्त चित्त की ही तो करामात है! पर विवश हूँ मित्र, मुझे क्षमा करना। तुम्हें देखकर मेरे मन में क्रीड़ा-शैल का भ्रम होना बिलकुल असगत बात है, मैं समझता हूँ, पर विवश हूँ। यही क्या भुवनमोहिनी की माया है? चित्त में निहित भयंकर अभाव को प्रतिक्षण कुहक के द्वारा, इन्द्रजाल के द्वारा, भरने की उनकी जो क्रिया है उसे ही क्या शास्त्रकारों ने 'भाव' कहा है? मेरे मन में हर वस्तु को देखकर अभिलाप-कातर 'भाव' की तरंगें उठा करती हैं। मैं अपने 'भाव' को पहचान पाता हूँ। 'भाव' अर्थात् होना। जो मैं हूँ, जिसे पाकर मेरी सत्ता चरितार्थ होती है, वही तो मेरा 'भाव' है। क्या भुवनमोहिनी अपनी अद्भुत कुहक-तरंगों से मुझे नित्य बनाना चाहती है कि मेरी चरितार्थता कहाँ है? यह अभिराम क्रीड़ा-पर्वत, जिस पर प्रिया के चरणों की मंजीर-ध्वनि मुखरित है, जिस पर उसके मृदुल-

कोमल पद-संचार के समय महावर की लालिमा तरंगित हो उठती है, जिस पर वापी में स्नान करने के बाद निखरी हुई उसकी अंग-शोभा अनुभाव की लहरदार धारा से कान्ति की स्रोतस्विनी बहा देती है, हाय, यह क्या वही क्रीडा-शैल है ! यहीं कहीं मेरी प्रिया—उदास प्रिया—बैठी मेरी बाट जोह रही होगी । परन्तु नहीं मित्र, यह निरा पागलपन है, मेरा चित्त अत्यन्त कातर हो उठा है, मैं तुम्हें अपने मकान का चिह्न बता रहा हूँ, पर न जाने कौन-सी दुर्वार शक्ति मुझे विवश कर देती है कि मैं तुम्हें क्रीडा-पर्वत समझ बैठता हूँ। जरा-सी समानता देखकर जो 'मनोज'-भावना समस्त ज्ञान को अवरुद्ध कर देती है और जो, जो नहीं है, उसे उसी रूप में उपस्थित कर देती है वह निश्चय ही व्यक्ति-चित्त में विच्छिन्न भाव से उत्पन्न और वस्तु-विशेष से साम्य द्वारा उद्दीप्त होनेवाली खण्ड-भावना नहीं है। धन्य हो त्रैलोक्यमनोज, त्रिकाल-कमनीय मनोमोहन देवता, कितना अखण्ड है तुम्हारा व्यापक प्रभाव ! मेघ-जैसे मित्र को क्रीडा-शैल के रूप में उपस्थित करने में तुम्हें क्षण-भर भी आयास नहीं करना पड़ता, अन्तर्निहित अभिलाष-भावना में तुम अनायास ज्वार उत्पन्न कर देते हो। कहाँ वह मेरी मानसिक अभिलाष-धारा को उद्वेल कर देनेवाला चित्तोन्माथी क्रीडा-शैल और कहाँ यह अकारण सुहृद् मेघ ! पर मित्र, बुरा न मानना, सच्चा सखा वही है जो सुहृद् के वास्तविक 'भाव' को प्रत्यक्ष करा दे; तुम्हें देखकर मैंने अपनी सत्ता की चरम सार्थकता का रहस्य समझ लिया है। तुम क्रीड़ा-शैल ही हो, प्रिया के स्पर्श के कारण परम काम्य !"

> तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
> क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः ।
> मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
> प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥ 14 ॥

यक्ष ने अपने को सँभालने का प्रयत्न किया। मेघ के चेहरे पर कुछ हल-चल दिख रही है। क्या सोच रहा है यह ! यही सोचता होगा यह कि यक्ष पागल हो गया है, इससे अधिक बात करना ठीक नहीं। ठीक ही तो है, यह भी कोई बात हुई, कि घर का पता बताने चले और भाव-गद्गद प्रलाप

[illegible] और [illegible] है कि तुम्हारे चित्त में जो कातरता है, वह भुवन-[illegible] को [illegible] इन्द्रजाल की माया है या व्यक्ति-विशेष में [illegible] मन के [illegible] काम-[illegible] ! रिझो हो बाबा, तो सिर्फ [illegible] क्यों, ऐसी [illegible] बातों में क्यों उलझते हो ? [illegible] करते हो ? सीधे क्यों नहीं कहते कि तुम्हारा घर [illegible] है, [illegible] है, [illegible] है जिसके सामने है उत्तर ओर है कि [illegible] जिस तरह [illegible] है, [illegible] हो तो सीधी बातें करनी चाहिए। [illegible] को [illegible]। पर यह ऊल-जलूल [illegible] देखता। [illegible] भाषा में कहेगा। 'हाँ मित्र उस क्रीडा-शैल पर [illegible] मरकती-[illegible] है, [illegible] के घेरे से घिरा हुआ। ठीक से समझ लो। उसकी [illegible] पेड़ हैं एक अशोक का, एक बकुल का। अशोक के पेड़ के पत्ते [illegible] देखने ही लायक है। पार्वत्य देशों में यह विश्वास प्रचलित है कि अशोक सुन्दरी रमणियों के नूपुरयुक्त वाम-पाद के ताड़न से और बकुल (मौलसिरी) उनकी मुख-मदिरा से विवश पुष्पित हो उठते हैं। उधर वसंतकाल में धूम-धाम से उत्सव मनाकर इन वृक्षों को फूलने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हर घर में सुन्दरी किशोरी चरणाघात से अशोक को और मुख-मदिरा के सेचन से बकुल को पुष्पित करने का अभिनय करती हैं। यह केवल दृश्य है, अभिनय है, प्रयास-मात्र है। और, और जगह क्या होता है यह तो मुझे नहीं मालूम, पर मेरे घर के ये दोनों हज़रत जब तक तुम्हारी भाभी के सनूपुर चरण और मुख-मदिरा का आनन्द नहीं उठा लेते तब तक फूलने से कतई इनकार कर देते हैं। पहाड़ों पर हज़ारों अशोक अनायास फूलते रहते हैं, वहाँ बिचारों को नाम-नाम चरणों का स्पर्श मिलता है ! पर हमारे हज़रत ऐसे लाड़ले हैं कि उन्हें मेरी प्रिया का स्पर्श अवश्य मिलना चाहिए। अशोक महाशय तो ऐसे दुर्ललित हैं कि पूछो नहीं, चरण का ताडन उन्हें अवश्य मिलना चाहिए, सो भी दाहिने का नहीं, बायें चरण का ! दाहिने से लग जाये तो उन्हें ज्यादा चोट लग सकती है, उससे वे नाराज़ हो जाते हैं। बायां चरण चाहिए, नूपुर अवश्य रहना चाहिए, महावर न लगी हो तो उनकी खुशामद अधूरी रह जायेगी। हल्का-सा पदाघात, नूपुर की भीनी रुन-

झुन, कौसुम्भ-वस्त्र की लहरीला फरफराहट और लो, हजरत कन्धे से ही फूट पडते हैं, लाल फूलो के गुच्छे झमाझम लहक उठते हैं! यह शौकीनी है। मगर इस अशोक को दोष भी क्या दूँ, मैं भी तो उन नूपरयुक्त चरणो को गोद मे रख लेना चाहता हूँ, अशोक में पुष्प उत्पन्न होने के उत्सव के क्षण-भर बाद ही मैं उन्हें गोद मे लेकर सहलाया करता था! हाय मित्र, उन पद्म-ताम्र चरणो की शोभा तुमने नही देखी, मैं व्याकुल भाव से सोच रहा हूँ कि उन्हे पाऊँ! कहाँ पाऊँ, कैसे पाऊँ? अशोक धन्य है, मैं भाग्यहीन हूँ। हाय, प्रिया के उन थके चरणो का सवाहन करने का अवसर कब मिलेगा?"

रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्र कान्तः
प्रत्यासन्नौ कुरबकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
काक्षत्यन्यो वदनमदिरा दोहदच्छद्मनाऽस्याः ॥ 15 ॥

फिर प्रलाप! मेघ कह रहा है, उसे जल्दी है। पँवारा बन्द करो, सीधी बात कहो। "हाँ, ठीक है मित्र, बार-बार गलती हो जाती है। चित्त दुर्बल हो गया है। मेरे घर के और चिह्न भी हैं, सुन लो। ये जो दोनों वृक्ष हैं—अशोक और बकुल—उनके बीच में कच्चे बाँस के समान हरी चिकनी मणियो से बनी एक चौकी है, जिसके ऊपर स्फटिक की एक चौकोर पाटी बाँधी गयी है। उस पाटी पर सोने की एक वास-यष्टि है, जिस पर तुम्हारा सुहृद् मयूर सूर्यास्त के बाद नित्य आकर बैठता है। इस मयूर को भी तुम कम विदग्ध न समझना। भलेमानस को मेरी प्रिया चूडियों की रुन-झुन से ही नचा देती है! इगुर-जैसी गोरी कलाइयों की रगीन चूडियो की रुन-झुन से नाच उठना क्या मामूली रस-सवेदना है? मगर क्या करोगे मित्र, तुम्हारी भाभी के स्पर्श मे ही रस है। उसने जिसे ही छू दिया, निहार दिया, छाया-दान किया, वही रसमग्न हो जाता है, वह पारसरूपा है!

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥ 16 ॥

"इतना काफी है। इन चिह्नों को देखकर तुम मेरा घर पहचान लोगे।

द्वार पर ही शंख और पद्म लिखे दिखायी देंगे। शंख अपने लहरदार आवर्तों के कारण और पद्म अपने क्रमवर्द्धमान दलों की निराली शोभा के कारण अनन्त समृद्धि के प्रतीक बन गये हैं। मेरे घर में लिखे गये शंख और पद्म आशा और विश्वास के ही निदर्शन हैं। हर गृहस्थ शंख और पद्म की संख्या तक पहुँचनेवाले धन की आकांक्षा करता है, आशा रखता है, विश्वास रखता है। मिलता है कि नहीं, यह बड़ी बात नहीं है। गृहस्थ मंगलकामी होता है, आशा उसकी प्रेरणा है, विश्वास उसका बल। मैंने भी अपने द्वार पर शंख और पद्म लिखवा रखे हैं। उन्हें देखते ही तुम पहचान लोगे। लेकिन सबसे बड़ा चिह्न यह है कि मेरा घर बहुत उदास दिख रहा होगा, मेरे अभाव में वहाँ उल्लास कहाँ रह गया होगा? सूर्य के बिना कहीं कमल खिल सकते हैं?

एभिः साधो हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्॥ 17॥

"बस, अब देर न करना। निश्चित रूप से यही मेरा घर है। उसी क्रीड़ा-पर्वत की चोटी पर जा बैठना। लेकिन कैसे जाओगे? वाह, यह भी कोई प्रश्न है! तुम इन्द्र के कामरूप अनुचर हो, जैसा चाहो वैसा ही रूप धारण कर सकते हो, इसमें तुम्हें क्या सोचना है, झट-से हाथी के बच्चे-जैसा रूप बना लेना और आहिस्ते से क्रीड़ा-पर्वत की चोटी पर जा बैठना। और फिर? फिर जुगनुओं की पंक्ति के समान झिलमिलानेवाली अपनी बिजली की दृष्टि से घर के भीतर झाँकना, बहुत हौले-हौले! तुमने अगर जल्दी-जल्दी तेज निगाह दौड़ायी तो अनर्थ हो सकता है, इसलिए, मित्र, बहुत सावधानी से आहिस्ते-आहिस्ते उस घर के कोने-कोने में दृष्टिनिपात करना, कड़कना नहीं, चमकना नहीं, चकाचौंध न उत्पन्न कर देना। तुम नहीं जानते कितने सुकुमार शरीर के कितने सुकुमार हृदय को तुम्हें पहचानना है। तेज रोशनी न कर देना, हल्की-हल्की रोशनी—अल्पाल्प भास!

गत्वा सद्य. कलभतनुता शीघ्रसम्पातहेतो
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।
अर्हस्यन्तर्भवनपतिता कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभा विद्युदुन्मेषदृष्टिम् ॥ 18 ॥

"घुमन्तू मौजी जीव हो। उज्जयिनी से बढोगे तो बौद्ध कलाकारो की बनायी हुई भोडी तुन्दिल यक्ष-मूर्त्तियाँ तुम्हे बहुत मिलेगी। इधर के लोगों ने मान लिया है कि सेठ और सेठानियाँ मोटे शरीर की होती है। जिसके पास पैसा होता हे वही मोटा होता है, उसी के शरीर की चर्वी बढ जाती हे और यक्षो से बड़ी सेठाई कहाँ मिलेगी? सो कल्पनाविलासी होते हुए भी यथार्थवादी हौंसवाले बौद्ध मूर्त्तिकार यक्षिणियो की भोडी मूर्त्तियाँ बनाया करते हैं। साँची और भरहुत मे इन मूर्तिकारों ने ऐसी सैकडो यक्षमूर्त्तियाँ बना रखी है और आज भी बनाते जा रहे है। इन्हे देखने के बाद तुम्हारी कल्पना मे यक्ष-यक्षिणियो की ऐसी तुन्दिल भोडी मूर्त्तियाँ घूमती रहेगी। कही मेरी प्रिया को भी ऐसी न मान बैठना। मानता हूँ मित्र, कि पैसा मनुष्य को भीतर और बाहर से बेडौल बना देता है, पर मेरा घर ऐसा नही है। मेरी प्रिया के चित्त मे उस अद्भुत प्रेमदेवता का निवास है, जो मनुष्य-लोक मे भी दुर्लभ है। इसलिए भीतर से बाहर तक वह कमनीय है। वह तन्वी है, पतली सुवर्ण-शलाका-सी! प्रथम कैशोर वय मे जो तपे हुए कुन्दन का-सा गाढ पीत-रग तरुणियो मे श्यामा कान्ति निखार देता है, जिसके कारण यौवन के चढाव पर खडी तरुणियो को 'श्यामा' कहकर सहृदय जन उल्लसित होते हैं, वही रग तुम उसमे तरगित होते देखोगे। वह सच्ची 'श्यामा' है। मुझे व्याकुल विरही समझकर मेरे शब्दो को अन्यथा-प्रयुक्त मत समझना। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि असली कुन्दन का श्यामाभ रंग विधाता एक ही बार बना सके थे और उसका उपयोग उन्होने मेरी हृदयेश्वरी के बनाने मे ही किया था। सयोग से ही वह मोहन रग बन गया होगा, रोज-रोज थोड़े वह सयोग आता है, बना सो बना! और उसके नन्हे-नन्हे नुकीले दाँत? जब वह हँसती है तो मोती झरते हैं! शास्त्रो मे जो लिखा है कि स्निग्ध, समान रूपवाले, एक कतार मे समान भाव से विन्यस्त दाँतो को 'शिखरी' कहते हैं, जो ताम्बूल रग से मिक्त होने

पर की स्फुट कलि-[illegible], [illegible] से चमका करते हैं, वह तो मानो
[illegible] को देखकर लिखा है। [illegible] 'शिखरि-दशना' है। नागरजनों के
[illegible] हैं। [illegible] ही वे विशालदर्शी होते हैं, नहीं
[illegible] इन [illegible] दाँतों का अनुमान वे कैसे कर सक
है? तुम इन सुन्दर दाँतों को [illegible] देखते तो मेरी बात समझ
जाते। कहाँ देख पाओगे? उसने [illegible] तक पान खाया ही नहीं होगा
मगर फिर भी उन 'शिखरी' दाँतों को तुम पहचान लोगे। मगर मैं भी
क्या प्रलाप कर रहा हूँ! तुम्हें उसके दाँत दिखेंगे कहाँ? हाय, उसने इ
[illegible] दिनों में क्या कभी हँसने का अवसर पाया होगा मित्र, विरह
ने सब सुखा दिया होगा! वे कुन्दकलिका के समान दाँत कभी खुले ही
नहीं होंगे। अधरोष्ठ भी सूख गये होंगे। परन्तु मेरा अनुमान है कि उन
अधरों पर सहज विराजमान लालिमा, जो पके हुए बिम्बफल में ही दिखायी
देती है, अब भी वैसी ही होगी। तुमने 'पक्व बिम्बाधर' शब्द सुना होगा, इसका
अर्थ समझना चाहो तो उसी के अधरों को देखकर समझ सकते हो। हाय
वे अधर अब कैसे हो गये होंगे! और वे चकित हरिणी के नेत्रों के समान
भीत-चकित बड़ी-बड़ी आँखें? मित्र, शोभा और विच्छिति उन आँखों के
किनारे पर उठती-बैठती हैं। तुमने पद्मिनी जाति की उत्तम स्त्रियों की
चर्चा सुनी होगी। महामाया का सबसे सुकुमार विलास स्त्री-शरीर के अव-
यवों में आविर्भूत हुआ है और उस विलास का सर्वाधिक मोहक अधिष्ठान
पद्मिनी नारी है। महामाया का यह लोकोत्तर-मनोज्ञ विलास पद्मिनी नारी
के 'चकितमृगदृशाभ्रान्तरवत' नयनों में उल्लसित होता है। मैं कहूँ कि
महाशक्ति का सर्वोत्तम उल्लास नारी के नयन-कोरकों में तरंगित होता है
तो इसे गलत न समझना। एक बार जिसने इस प्रकार के शोभन नयनों का
प्रसाद पा लिया वह धन्य है, उसने इस सृष्टि के मूल में स्पन्दित होनेवाली
महामाया का प्रसाद पा लिया है। तुम जिस क्षण प्रिया के उन मनोज्ञ नयनों
को देखोगे उसी समय तुम्हें अपना जीवन चरितार्थ जान पड़ेगा, तुम्हारे
शत-शत जन्मान्तर कृतार्थ जान पड़ेंगे। क्योंकि तुम विधाता की आदि
सिसृक्षा को प्रत्यक्ष रूप में देखोगे। यदि मेरी हृदयेश्वरी बैठी होगी तो तुम
उसकी तनुता, उसकी श्यामता, उसकी अधर-शोणिमा और उसके स्निग्ध

नयन-कोरकों को देखते ही पहचान लोगे। पर कदाचित् वह गृह-कर्म में लगी हो, शायद खड़ी हो, शायद चल रही हो। फिर भी तुम्हें उसे पहचानने में देर नहीं लगेगी। उसका कटि-प्रदेश बहुत पतला है, नाभि गम्भीर है, पीन-उन्नत वक्ष-स्थलों के कारण वह आगे झुकी हुई-सी लगती है, श्रोणी-भार के कारण गति में अलस विक्षेप है, बहुत धीरे-धीरे चल पाती है। मैं ठीक कहता हूँ मित्र, विधाता की आदि-सिसृक्षा को तुम उसमें प्रत्यक्ष देख पाओगे।

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥ 19॥

"आदि-सिसृक्षा! मन्त्रद्रष्टाओं ने कहा है कि परमशिव के मन में एक बार यह बात आयी कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ। उसी दिन वे दो तत्वों में अपने-आपको विभक्त करके प्रकट हुए। कोई नहीं जानता कि वह कौन-सी दुर्वार अभिलाष-भावना थी, जिसने परमशिव को इस प्रकार अपने-आपको द्विधा-विभक्त करने को प्रोत्साहित किया। उसी दिन से उस दुर्मद अभिलाष-भावना ने विश्व-ब्रह्माण्ड में शिव और शक्ति की अबाध लीला को मुखर कर रखा है। इसी को शास्त्रकारों ने 'सिसृक्षा' कहा है। और उसी दिन जो शिव और शक्ति का पारस्परिक आकर्षण व्यक्त हुआ वह 'आदिरस' कहा जाता है। भरतमुनि ने उसे ही 'आद्य-रस' या 'शृङ्गाररस' नाम दिया था। यह सारा जगत्प्रपंच उसी आद्य-रस का लीला-निकेत है। उसी दिन विश्वव्यापिनी महाशक्ति ने अपने-आपको भुवनमोहनी-रूप में व्यक्त किया। वह भुवनमोहिनी विधाता की आदि-सृष्टि है। क्या होता होगा भुवनमोहिनी का त्रैलोक्य-मनोहर रूप! कोई नहीं जानता कि उन्होंने कितने रूपों में कितनी बार अपने-आपको अभिव्यक्त किया है। मेरा हृदय कहता है कि 'पिण्ड' में कभी-कभी उस ब्रह्माण्ड-व्यापी शक्ति को देख लेने का सौभाग्य पुरातन पुण्यों के अतिरेक से ही होता होगा। उनकी महिमा-मयी अभिव्यक्ति को क्वचित्-कदाचित् बड़भागी लोग ही देख सकते होंगे। अलका के इस शंख-पद्मांकित गृह में जो सौभाग्य-लक्ष्मी तुम्हें मिलेगी,

उनमें मैंने भुवनमोहिनी—विधाता की आदिसृष्टि—को प्रत्यक्ष देखा है। मेरा सारा अस्तित्व तरल होकर उसी की ओर ढरक जाना चाहता है, यह कैसी रहस्य-लीला है! आदि-सिसृक्षा, आद्य-रस और आद्य-सृष्टि का रहस्य मेरे निकट हस्तामलक की भाँति प्रत्यक्ष हो रहा है। यह क्या उन्माद है, चित्त-विक्षेप है, चपल-वातुलता या मेरे जन्मान्तरों की कृतार्थता है? नहीं जानता मित्र, कि तुम इसे क्या समझ रहे हो, परन्तु मेरा रोम-रोम आज पुलकित कदम्ब-केसर की भाँति उद्भिन्न होकर कहना चाहता है कि यहीं विधाता की 'आद्य-सृष्टि'—युवति-जनों में अभिव्यक्त होनेवाली भुवनमोहिनी—प्रत्यक्ष हो उठी है, यहीं उनका त्रैलोक्य-सौभग रूप मूर्तिमान हुआ है!

"अपने प्रिय-सहचर से वियुक्त चक्रवाकी की भाँति वह बहुत कम बोल रही होगी। उसे तुम मेरा दूसरा प्राण—द्वितीय जीवन—समझना। विरह के भार से भारी बने हुए दीर्घ दिवस बीतते जा रहे हैं, उत्कण्ठा गाढ़ से गाढ़तर होती जा रही है। मैं समझता हूँ कि वह शिशिरमथिता पद्मिनी के समान मुरझा गयी होगी। उत्कण्ठा बड़ी कठिन मन स्थिति है। जब हृदय-स्थित राग अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर पाता तो चित्त में महती वेदना का आविर्भाव होता है, जो समूचे शरीर को सुखा डालती है। मैंने अपनी प्रिया के जिस मोहन रूप का वर्णन किया है, वह निश्चय ही बदल गया होगा। शिशिरमथिता पद्मिनी में सहज उत्फुल्लता कहाँ रह जाती है! हाय, उसका रूप ही दूसरा हो गया होगा!

ता जानीथा परिमितकथा जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
गाढोत्कण्ठा गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बाला
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनी वान्यरूपाम्॥ 20॥

"निस्सन्देह प्रबल वेदना से उसकी आँखें सूज गयी होंगी, गर्म निःश्वासों की निरन्तर लगती रहनेवाली आँच से उसके ओष्ठ सूखकर पीले पड़ गये होंगे, कहाँ रह गई होगी चकित हरिणी के समान बरबस आकृष्ट करनेवाली आँखें और पक्व बिम्बफल के समान अधर-लालिमा! सब सूख गया होगा! और उसका चाँद-सा सुन्दर मुख तो तुम पूरा देख भी नहीं सकोगे।

अत्यन्त चिन्ताकातर होने के कारण आधा तो वह हथेली पर ही पड़ा होगा, और जो-कुछ खुला भी होगा उस पर उसकी अस्त-व्यस्त चिकुर-राशि असगत भाव से बिखरी होगी। ठीक उसी प्रकार की शोभा होगी, जैसी तुम्हारे द्वारा आच्छादित चन्द्रमण्डल की होती है। फिर या तो वह देवताओं की पूजा मे व्यस्त मिलेगी, या अपनी कल्पना द्वारा मेरे विरह-निर्बल शरीर का चित्र बनाती दिखेगी, या फिर यह भी हो सकता है कि मीठी सुरीली आवाजवाली मैना से पूछती ही दिख जायेगी कि 'ऐ रसिके, तुझे क्या अपने मालिक की याद आती है, तू तो उन्हे बड़ी प्रिय थी!'

> नून तस्या. प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं प्रियाया-
> नि.श्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
> हस्तन्यस्त मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
> दिन्दोर्दैन्य त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥ 21 ॥
> आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
> मत्सादृश्य विरहतनु वा भावगम्य लिखन्ती।
> पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्था
> कच्चिद्भर्तु स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति ॥ 22 ॥

"और यह भी हो सकता है कि मैले वस्त्र धारण किये गोद मे वीणा लिये, उच्च स्वर मे मेरा नाम लेकर और मेरे कुल की कीर्तिगाथा बनाकर गाने का प्रयत्न करती मिलेगी। हाय मित्र, कितना करुण होगा वह गान! निरन्तर झड़नेवाली अश्रुधारा से भीगे हुए वीणा-यन्त्र को तो वह किसी प्रकार पोंछ भी लेती होगी, पर मेरे स्मरण से इतनी बेसुध होगी, कि सधे स्वरो के आरोह-अवरोह को भूल ही जाती होगी!

> उत्सगे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणा
> मद्गोत्राङ्कं विरचितपद गेयमुद्गातुकामा।
> तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलै' सारयित्वा कथचिद्—
> भूयोभूय. स्वयमपि कृता मूर्च्छना विस्मरन्तीम् ॥ 23 ॥

"मगर सम्भावना और भी है। हो सकता है कि मेरे विरह के दिन से ही देहली पर दिये हुए पुष्पो को धरती पर फैलाकर गिन रही हो कि कितने दिन बीत गये, और कितने दिन और बाकी रह गये हैं। हो सकता है कि

शेषान्मासान्विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पै ।
सम्भोग वा हृदयनिहितारम्भमास्वादयन्ती
प्रायेणैते रमणविरहेष्वङ्गनाना विनोदा ॥ 24 ॥

'दिन तो किसी प्रकार उसके इन कामों में कट जाता होगा, पर रात कैसे कटती होगी? मुझे आशका है कि रात को उसका दुःख बहुत बढ़ जाता होगा, उस समय ऐसे विनोद काम नहीं आते होंगे। जब महाकाल-देवता धरित्री पर अन्धकार का काला पर्दा डाल देते हैं तो अन्तःकरण समस्त कर्मजाल से विरत होकर विश्राम पाता है। वही समय प्रिय-विरहिताओं का सबसे कठोर समय होता है। दूर पड़े हुए प्रियतम के चित्त में जो भावतरंगें उठा करती हैं, वे न जाने कैसे प्रेमी के चित्त को मथित-व्याकुल कर देती हैं। कैसे इन लोगों की धड़कन सैकड़ों योजन दूर रहने-वाले प्रियजन के चित्त में कम्पन की प्रतितरंगें उत्पन्न करती हैं, यह भारी रहस्य है, कहीं-न-कहीं कोई अन्तर्निहित अद्वैत भावधारा अवश्य काम कर रही होगी, नहीं तो यह सब कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिए मेरी सलाह यह है कि तुम निशीथकाल में मेरा सन्देश सुनाकर उसे सुखी करना। मैं ठीक जानता हूँ, वह बिचारी उनींदी होकर धरती पर पड़ी होगी! कैसी निद्रा, कैसी सेज! खिड़की उसने अवश्य खोल रखी होगी, तुम चुपचाप उसी पर जा बैठना।

सव्यापारामह्नि न तथा पीडयेन्मद्वियोग
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुच निर्विनोदा सखी ते ।
मत्सन्देशै: सुखयितुमल पश्य साध्वी निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयना सौधवातायनस्थ ॥ 25 ॥

"तुम नहीं समझ सकते मित्र, भगवान् न करें कि तुम्हें यह सब समझने का अवसर मिले! विरह बड़ी दारुण अवस्था होती है। मेरी प्रिया

थी, पद्मिनी लता के समान यौवनभरित देह-यष्टि इस मानसिक दुःख के निरन्तर आक्रमण से क्षाम—क्षीण—हो गयी होगी; जैसे मेरे ध्यान में वात्याक्रान्त पत्रहीना मधुमालती लता हो। विरह-ताप के शमनार्थ उसने किसलयों की शय्या रची होगी और उसके एक किनारे दुबकी पड़ी हुई इस प्रकार दिख रही होगी, जैसे कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी की क्षीण चन्द्र-कला उस प्राचीन प्राची दिशा में टिकी पड़ी रहती है। कोई ऐसा भी समय था, जब मेरे साथ नाना भाव के आनन्दजनक गुणों को अनुभव करती हुई उस दुःखिनी की रातें क्षण-भर की तरह कब समाप्त हो जाती थीं, इसका पता भी नहीं चल पाता था। आज वे रात्रियाँ कितनी दारुण बन गयी होंगी, विरह के कारण उनका विस्तार बहुत बढ़ गया-सा जान पड़ता होगा। जो रातें कभी पल-भर में समाप्त हो जाती थीं, उन्हें आज आँसुओं के साथ न जाने कैसे बिता रही होगी। विरहदीर्घ रात्रि-काल उसके लिए बड़े भयंकर हो उठे होंगे।

> *आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां*
> *प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः ।*
> नीतां रात्रिं क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
> तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥ 26 ॥

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि चन्द्रमा की शीतल किरणें उसे कष्ट ही दे रही होंगी। पहले के अनुभवों से उत्साहित होकर जब वह जालीदार खिड़की के रास्ते से घर में प्रवेश करनेवाली चन्द्रकिरणों को आशा और विश्वास के साथ देखती होगी और शीतलता के स्थान पर उष्णता पाकर कातर भाव से तुरन्त अपनी दृष्टि हटा लेती होगी, तो उसका सुन्दर मुख कैसा करुण हो उठता होगा! हाय-हाय, उसकी आँखें दुख जाती होंगी, अश्रुभार से गीले पलकों से उन्हें ढकने का प्रयत्न करती होगी, और वे बड़ी-बड़ी आँखें मेघावृत दिवस में आधी-खुली आधी-मुँदी स्थलपद्मिनी के समान विचित्र करुण शोभा धारण करती होंगी। क्या कहोगे उन आँखों को मित्र, जो न खुली हैं, न मुँदी हैं, न जगी हैं, न सोयी हैं? मेरा अन्तस्तल उनकी कल्पना-मात्र से फटा जा रहा है। हाय मित्र, मेघावृत दिवस की स्थल-पद्मिनी—'न प्रबुद्धा न सुप्ता'!

सरल था ? मगर बिदा लेनी पड़ी । विचित्र माया है मित्र, कोई नहीं चाहता कि उसका प्रिय बिछुड़ जाय, सभी चाहते हैं कि प्रियजन को बाहु-पाश में बाँधकर रोक लें । पर संसार है कि सभी को छोड़-छाड़कर चल देना पड़ता है । मनुष्य कितना विवश है, कितना अपंग ! नीचे से ऊपर तक भयंकर हाहाकार के भीतर से एक ही स्वर प्रबल भाव से सुनायी दे रहा है : 'रुक जाओ, ठहरो !' और इस स्वर के कोलाहल में अदृष्ट देवता के भृकुटितर्जन से निरन्तर सबको छोड़कर चल देने की प्रक्रिया अविराम गति से चल रही है । वह सामने जो राम-गिरि का निर्झर है, उसके भीतर इस हाहाकार का क्रन्दन मुझे नित्य सुनायी देता है । मुझे ऐसा लगता है कि ऊँचाई पर लोकचक्षु के बिलकुल अन्तराल में स्थित कोई प्रेयसी उसे अपनी शिथिल बाहुलताओं में जकड़ने का प्रयत्न कर रही है और कह रही है, 'क्या थोड़ा और नहीं रुक सकते' और वह कातर भाव से चीत्कार कर रहा है, 'नहीं प्रिये, ऊपर देवता विकट भृकुटि से इंगित कर रहा है कि तू शापग्रस्त है, तुझे नीचे गिरना पड़ेगा, नीचे, नीचे, और भी नीचे !' यही हुआ मित्र, जब प्रथम वियोग की कल्पना-मात्र से मेरी प्रिया ने व्याकुल होकर मेरे प्रस्थान-क्षण में मेरी ओर देखा था, अविरल अश्रुधारा से धौत होते रहने के कारण उसके गुलाबी कपोल फीके पड़ गये थे, आँखें सूज गयी थीं और मृणाल-नाल के समान उसकी बाँहें शिथिल श्यामालता की भाँति निश्चेष्ट हो गयी थीं । उसका कण्ठ वाष्प-रुद्ध था, वह कुछ बोल नहीं सकी, केवल भीतिजड़ नेत्रों की कनखियों से उसने मेरी ओर विवश भाव से देखा । उस दृष्टि का अर्थ था, 'क्या अब कुछ भी नहीं हो सकता ?' क्या हो सकता है प्रिये, तुम्हारी इस दशा को देखकर पाषाण पिघल सकता है, पर देवता तो पाषाण नहीं हैं, उन्हें विधाता ने सब दिया है, केवल हृदय नहीं दिया । चलना ही पड़ा । मैं निरन्तर इस निर्झर के हाहाकार में अपनी ही कहानी सुना करता हूँ । कितनी करुण वेदना है, पर संसार है कि अपनी गति में चला ही जा रहा है । मैं जब चलने को प्रस्तुत हुआ, उस समय प्रिया ने उस मालती की माला—मालतीदाम—को केशों से उतार दिया, जिसे बड़े यत्न से मैंने स्वयं केश-पाश में उलझाया था । उसने सारे केशों को एक ही लट बनाकर समेट के बाँध लिया । मेरा अन्तःकरण जैसे फटकर द्विधा-

विसक्त हो गया। उसने कातर भाव से संक्षेप में कहा—'जब लौटोगे तो [illegible] ठीक करोगे।' हाय मित्र, यह शाप न जाने कब समाप्त होगा! [illegible] जब अन्त होगा, जब फिर लौट जाऊँगा, तभी उन केशों का कुछ [illegible] हो सकेगा; अभी वे ऐसे सूखे हो गये होंगे कि उन्हें छूने में उसे [illegible] हो रही होगी, उलझी हुई स्पर्श-क्लिष्टा चोटी उसके गालों पर आ [illegible] होगी, और वह बार-बार अपने—असंयमित होने के कारण बढ़े [illegible] नाखूनोंवाले हाथ से—हटाने का प्रयत्न कर रही होगी।

"इसमें एक रहस्य है। मैं जब बालक था, राजा कुबेर की सेवा में [illegible] ही हुआ था, उस समय गुह्यकेश्वरी ने एक बार आज्ञा दी कि [illegible] सरस्वती-विहार में त्रैलोक्य-जननी पार्वती पधारनेवाली हैं, उनके [illegible] में अर्घ्य देने के लिए सुन्दर ताजे फूलों का तोड़ा लेकर वहाँ उपस्थित [illegible]। मैंने आज्ञा का पालन किया। वैभ्राज वन के सर्वाधिक मनोहर [illegible] सुकुमार पुष्पों का चयन किया और यथासमय सरस्वती-विहार में [illegible]। भवन बहुत अच्छी तरह सजाया गया था। वहाँ जाने पर पता [illegible] कि वहाँ केवल अलकापुरी की महिलाएँ ही उपस्थित थीं, पुरुष कोई [illegible]। एक क्षण के लिए मुझे संकोच हुआ, परन्तु गुह्यकेश्वरी की आज्ञा [illegible] उल्लंघन करना भी ठीक नहीं था। इसलिए द्वाररक्षिणियों की अनुमति [illegible] मण्डप-द्वार पर पहुँच गया। प्रवेश करते ही त्रैलोक्यजननी के दर्शन [illegible] जन्मजन्मान्तर कृतकृत्य हो गया। कोई ऐसा प्रसंग चल रहा [illegible] मेरे अचानक पहुँचने से व्याघात की आशंका थी, इसलिए [illegible] ने दृष्टि से आदेश दिया कि चुपचाप खड़े रहो, मैं कुछ ठिठका-[illegible] खड़ा रहा। एक बार देवी की स्निग्ध दृष्टि मुझ पर पड़ी और मुझे [illegible] कि मेरे अन्तर तक के समस्त कलुष आज धुल गये। उस समय [illegible]-वधू पार्वती के चरण-स्पर्श करने पहुँची थी। उसकी सुन्दर [illegible] केश-राशि खुली हुई थी और उसकी पीठ पर इस प्रकार झूल [illegible], जैसे मधु-लोभ से आकृष्ट सैकड़ों भ्रमरों की पंक्ति झूल रही [illegible] ने प्यार से उसका सिर चूम लिया और बड़े लाड़ के साथ [illegible] लिया। फिर उन्होंने उसके केशों को तीन वेणियों में विभाजित [illegible] एक-दूसरे से उलझाकर चोटी गूँथ दी, फिर मेरी ओर

देखकर कहा—'मालतीमाला देना!' और फिर मालतीमाला को सुकुमार भाव से वेणी-मूल मे लपेट दिया। उस निसर्ग-मुन्दर वधू के मनोहर रूप मे चार चाँद लग गये। वेणी को धीरे-धीरे सहलाते हुए उन्होंने कहा—'जानती हो गुह्यकेश्वरी, यह बाह्य त्रिवेणी है, यह महामाया की ओर से सौभाग्यवती वधू को दिया हुआ सर्वोत्तम उपहार है।' गुह्यकेश्वरी ने विस्फारित नेत्रो से जगज्जननी की ओर देखा। बोली—'ज़रा समझाकर कहो माता!' त्रैलोक्यजननी पार्वती ने मन्द स्मित के साथ कहा—'यह जो मेरुदण्ड है न, इसके मूल मे, *एक त्रिकोण शक्तिपीठ मे, स्वयम्भू शिव* विराजमान है, वही उन्हे साढे तीन वलयो मे वेष्टित करके भगवती कुण्डलिनी अधोमुखी होकर विराजमान हैं। ऊपर मेरुदण्ड के बीच इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाडियो की त्रिवेणी है। मूलाधार मे वह युक्त होकर निकलती हैं और मस्तक-स्थित सहस्रार के ठीक नीचे मुक्त वेणी के रूप मे बिखर जाती है। अनेक साधना के बाद भगवती कुण्डलिनी जाग्रत होकर इस त्रिवेणी-मार्ग को धन्य करती हैं। परन्तु महामाया ने सौभाग्यवती रमणी को यह बाह्य त्रिवेणी का वरदान दिया है। यह सहस्रार से आरम्भ होकर युक्त वेणी के रूप मे चलती है और मूलाधार पर आकर मुक्त वेणी के रूप मे बिखर जाती है। यह *अद्भुत त्रिवेणी अनायास* रमणी को वह सिद्धि देती है जिसके लिए पुरुष को सैकडो प्रकार की कृच्छ्र-साधना करनी पडती है। *मूलाधार से ऊर्ध्वगति होने के लिए भगवती कुण्डलिनी कठिन* आराधना चाहती हैं। सहस्रार मे विराजमान परमप्रेयान् शिव से विमुख भगवती कुण्डलिनी मानवती प्रिया के समान गर्विणी है। *उनकी कुटिलता* के कारण ही शिवजी उन्हे 'वामा' कहते हैं और साधक जन 'भुजगिनी' कहते हैं। सौभाग्यवती रमणी के सहस्रार से उद्भूत यह अलक-त्रिवेणी बाह्य-भुजगिनी है। चतुर दूतिका की भाँति यह उन्हे प्रिय के अनुकूल बनाती है; यही कारण है कि जो सामरस्य पुरुष के लिए अनेक कृच्छ्र तपों से भी दुर्लभ ही बना रह जाता है, वह सौभाग्यवती पतिव्रता को अनायास प्राप्त हो जाता है।'

"इतना कहने के बाद जगन्माता ने उस बालिका की ओर दृष्टि फेरी। उसकी वेणी-भुजगिनी तब भी उन्ही के हाथों मे थी। उन्होंने फिर यत्न-

नागर की समाधि मन्त्रचैतन्य में बाधक होती है। जब पतिधर्मचारिणी का चित्त ध्यान, धारणा और समाधि में एक ही विषय में समाहित होता है, तभी यह सिद्धि दोनों को प्राप्त होती है।' गुह्यकेश्वरी ने और अचरज की मुद्रा धारण की। बोलीं—'अर्थात् ?' और मेरी ओर स्नेह-भरी दृष्टि से देखकर बोलीं—'अब तुम जा सकते हो वत्स!' मैंने अनिच्छापूर्वक आज्ञा-पालन किया। शायद मेरा पुराकृत पुण्य इतना प्रबल नहीं था कि मैं लोक-जननी पार्वती के मुख से 'मन्त्रचैतन्य' की व्याख्या सुन सकता, या शायद कुछ ऐसी बात थी जिसका मैं अधिकारी नहीं। जो भी हो, मैं मन्त्रचैतन्य के ज्ञान से वंचित रह गया!

"पर मैंने एक बात गाँठ बाँध ली। पतिव्रता की वेणी को तीन धाराओं में विभाजित करके मालती-दाम से गूँथना पति-धर्म है। मैंने कभी एक दिन के लिए भी इस प्रिय कर्तव्य के पालन में आलस नहीं किया। विवाह के बाद मेरा यह नित्यकर्म हो गया। हाय, आज आठ महीनों से मैं कर्तव्यच्युत हूँ, आठ महीने से सहस्रार की मुक्त वेणी नहीं बन सकी, आठ महीनों से यह शिवकुंतिका भगवती कुण्डलिनी को सामरस्य भाव की ओर लाने का प्रयत्न नहीं कर सकी। उस दिन प्रिया ने उसे जो एक लट में बाँधा सो बाँध ही दिया। कब इस दारुण शाप का अन्त होगा, कब मैं प्रिया की वेणी सँवार सकूँगा, कब असयत दुर्ललित केश उसके कपोलप्रान्त पर अत्याचार करने से विरत होंगे, कब उसकी कमल-कोरक-सी उँगलियों पर असयमित नखों का संस्कार होगा, कब मैं पति-धर्म की मर्यादा के पालन में समर्थ हूँगा! कब! कब! हाय मित्र!

आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां मयोद्वेष्टनीयाम्।
स्पर्शक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥ 29 ॥

"मित्र, उसने सब आभूषण त्याग दिये होंगे, इसलिए उसकी कोमल देहयष्टि निराभरण होकर और भी हल्की हो गयी होगी। बार-बार दुख के कठिन आघात सह-सहकर वह इतनी कमज़ोर हो गयी होगी कि इस कृशकोमल शरीर को सँभाल रखना भी उसके लिए आयास की बात हो गयी होगी। वह क्या ठीक से सो भी सकती होगी! मैं निश्चित जानता हूँ कि उसकी यह कृश-दुर्बल तनु-लता दुबकी हुई शय्या के एक किनारे पड़ी होगी। तुम्हें भी उसकी यह दशा रुला देगी। तुम नवजलमय अश्रु अवश्य बरसाओगे। मैं जानता हूँ, तुम आर्द्र अन्तःकरणवाले सहृदय हो, ऐसे लोग दूसरों का दुख देखकर अवश्य पसीज जाते हैं। तुम्हारी बड़ी करुण दशा होगी। उस दुखिनी को देखकर तुम्हारे-जैसा आर्द्रान्तरात्मा रोये बिना कैसे रह सकता है!

सा सन्यस्ताभरणमबला पेशलं धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम्।
त्वामप्यस्रं नवजलमयं मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥ 30 ॥

"मैं ठीक नहीं कह सकता कि जगन्माता ने जो मन्त्रसिद्धि की बात कही थी वह क्या थी। क्या वह सिद्धि प्रिया को प्राप्त हो गयी है? कैसे बताऊँ? परन्तु एक बात मुझे बहुत आश्चर्यजनक लगती है। मेरे अनेक युवक मित्र अपनी प्रियाओं के सरस विहार की बातें मुझे सुना जाते थे। वे बताया करते थे, किस प्रकार अवहित चित्त से उन्होंने अपनी प्रेयसियों के कपोलदेश पर सुन्दर और सुडौल मंजरियाँ अंकित की हैं, किस प्रकार कस्तूरिकातिलक से उनके मनोहर भाल-पट्ट को अलकृत किया है। मैंने भी कपोलदेश पर सुन्दर मंजरी बना देने का प्रयत्न किया। परन्तु मुझसे वह कभी बन नहीं सकी। मैं जब तूलिका उठाता था तभी मेरे हाथों में कम्प उत्पन्न हो जाता, अंगुलि-प्रान्त स्वेदार्द्र हो उठते, और, और तो और, मेरे

मारे शरीर मे एक प्रकार की अवश जड़िमा आ जाती। तीन बार मैंने प्रयत्न किया और तीनो बार ऐसी ही दशा हुई। चौथी बार जब मैंने काँपते हाथो से तूलिका पकड़ी तो मेरी प्रिया ने मन्द-स्मित के साथ कहा, 'रहने दो, तुमसे नही होगा।' पर मैं सत्य कहता हूँ मित्र, दोष मेरा (अकेले का ही) नही था। चित्रकर्म के लिए चित्रकार सगुण आधार की आवश्यकता होती है। मुझे एक बार भी उसे प्राप्त करने का सौभाग्य नही मिला। हाथ में तूलिका ली नही कि प्रिया के कपोल-प्रान्त उद्‌भिन्न-केसर कदम्ब-पुष्प के समान रोमांचित हो जाते थे। ऐसी भूमि पर चित्र-कर्म कैसे हो सकता है? मैं अपने नव-विवाहित मित्रो के सौभाग्य से ईर्ष्या करता था। वे बड़भागी हैं जिन्हें न कम्प होता है, न स्वेद आता है, न रोमांच-विषम कपोलप्रदेश की बाधा मिलती है। पर जब मैं हाथ मे वेणी लेता हूँ, तो मुझे ऐसा-कुछ अनुभव नही होता। मुझे प्रथम दिन ही बाह्य त्रिवेणी को मुक्त वेणी से युक्त वेणी मे और युक्त वेणी से मुक्त वेणी में परिणत करने की सिद्धि मिल गयी थी। क्या मन्त्र-सिद्धि का कुछ अंश मुझे भी मिल गया था? कौन बतायेगा?

"मुझे आशंका हो रही है कि तुम मेरी बात को अन्यथा तो नही समझ रहे हो। तुम्हारे चेहरे पर जो चपल स्मित-रेखा है, उसका अर्थ मैं समझ रहा हूँ। तुम कह रहे हो कि वाह दोस्त, संसार की सर्वश्रेष्ठ पतिव्रता के पति होने का गौरव लेना चाहते हो, 'सुभग' कहलाने का अच्छा रास्ता खोज निकाला है—सुभग, जिसकी ओर रस-लुब्ध प्रेयसियाँ उसी प्रकार स्वयं आकृष्ट होती हैं जिस प्रकार भ्रमरावलियाँ उत्फुल्ल कुसुम की ओर आकृष्ट होती हैं! नही मित्र, मेरा मतलब ऐसा कुछ नही है। सुभग तो तुम हो। मैं विरह-व्यथा का मारा शापित-तापित अपने को 'सुभग' समझने का मिथ्या अहंकार कैसे धारण कर सकता हूँ? सुभगम्मन्य कोई और होंगे, मुझे गर्व के साथ अपने-आपको सौभाग्यशाली मानने वाला अधम जीव मत समझो। मैं तुम्हारी उस सखी—अपनी प्रिया—को ठीक-ठीक जानता हूँ, इसीलिए यह सब कह रहा हूँ। वह मुझे सचमुच प्यार करती है, जी भरकर प्यार करती है, इसीलिए मैं अनुमान से ऐसा कह रहा हूँ, कि वह ऐसी ही हो गयी होगी। इसे सुभगम्मन्य सौभाग्य-गर्वित की वाचालता न

समझो। मेरा हृदय कहता है कि वह कितनी आर्त है। शीघ्र ही तुम उसे देखने पर मेरी बात ज्यों-की-त्यों प्रत्यक्ष देखोगे। तुम उस समय अनुभव करोगे कि मैं जो कह रहा हूँ, उसमें रत्ती-भर की अतिरंजना नहीं है! आखिर यह उसका प्रथम विरह है—अननुभूत, अज्ञात, अप्रत्याशित!

> जाने सख्यास्तव मयि मनः संभृतस्नेहमस्मा-
> दित्थंभूता प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
> वाचालं मां न खलु सुभगम्मन्यभावः करोति
> प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत्॥ 31॥

"तुम जब उसके पास पहुँचोगे तो उसकी आँखें फड़केंगी। शास्त्रकारों ने कहा है कि अत्यन्त प्रिय संवाद की सूचना आँखें देती है, ऊपर की ओर फड़ककर। यह शुभ शकुन है। न जाने विधाता का कैसा रहस्यमय विधान है कि प्रिय या अप्रिय बात कान तक पहुँचने के पूर्व अंगों में विशेष प्रकार के स्पन्दन होने लगते हैं। सुदूरस्थित प्रिय व्यक्ति के कुशल या अकुशल की सूचना पहले ही मिल जाती है। क्या यह इसीलिए होता है कि संसार-व्यापी कोई एक ही चित्त है जो व्यक्तिचित्त के रूप में अभिव्यक्त और स्फुरित होता रहता है? अगर ऐसा न होता तो अनायास अंगों में स्पन्दन क्यों होने लगता? क्या यही शास्त्रकारों द्वारा बताये गये हिरण्यगर्भ की लीला है? मैं अज्ञ हूँ मित्र, मुझे ऐसा लगता है कि कोई विराट् चेतना अवश्य ब्रह्माण्ड-भर में व्याप्त है। एक व्यक्ति का चित्त यदि दूसरे व्यक्ति के चित्त के साथ एकतान हो सके, तो यह संवेदनशील विराट् चिति-शक्ति एक-दूसरे के भावों को सूक्ष्म भाव से अवश्य चालित करती है। अकारण उसमें पर्युत्सुकीभाव जाग पड़ता है। प्रिय के कुशल-संवाद से बढ़कर औत्सुक्य जाग्रत करनेवाली दूसरी वस्तु क्या हो सकती है? धन्य हो हिरण्यगर्भ, धन्य है तुम्हारी अपरम्पार लीला! मैं निश्चित जानता हूँ सखे, कि तुम जब निकट पहुँचोगे, तो तुम्हारी सखी के नयन भी ऊपर की ओर स्पन्दित होंगे। कैसे होंगे वे नयन? हाय, रूखे बालों के अत्याचार से उनके अपांग-वीक्षण की क्रिया अवरुद्ध हो गयी होगी; दीर्घकाल से उनमें स्निग्ध काजल नहीं पड़ने से वे फीके हो गये होंगे और मेरे वियोग के कारण उसने उन्मादक मधुपान तो छोड़ ही दिया होगा; इसलिए मेरा परिचित

[illegible] होगा। ऐसे ही कपोलों तक
[illegible] सौन्दर्य तो कहीं
[illegible] होगी।
इसलिए, [illegible] अंजन-आँजे नयन
[illegible], जो [illegible] शोभा धारण करेंगे
वे [illegible] हो उठता है। जब मैं मीन-क्षोभ से
चंचल [illegible] (नीलकमल) की शोभा धारण करनेवाले नयनों की
कल्पना करता हूँ, तो भी वे [illegible] अनुभव करता हूँ।

> रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्य
> प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम् ।
> त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शङ्के मृगाक्ष्या
> मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥ 32 ॥

"जाओ मित्र, जाओ, उस शोभा को यदि देख सके तो कृतार्थ होगे, मैं शायद किसी तो केवल कल्पना के नेत्रों से देखकर ही सन्तोष कर रहा हूँ। हिरण्यगर्भ की लीला गहन है, न जाने वह कितने अंगों में स्पन्दन उत्पन्न करती है, न जाने कितने गूढ़ संकेतों से वह प्रियमिलन में अहेतुक औत्सुक्य का संचार करती है। अगर यह न होता तो यह कैसे सम्भव था मित्र, कि शुभ संवाद की सूचना पाकर सुता जाने, छिपकली बता देती और आँगन के वृक्ष कम्प-व्याकुल अज्ञात वेदना से चपल हो उठते! चराचर में यह विराट् चैतन्य का समष्टि चित्त कितने स्तरों में क्षुब्ध होता रहता है, इसका कोई हिसाब नहीं है। शास्त्रकारों ने तो कुछ थोड़े-से शकुनों का उल्लेख-भर कर दिया है। प्रिय-कुशल-संवाद के ईषत् पूर्व ही नयन स्पन्दित हो उठते हैं, उरुदेश (जघा) स्फुरित हो उठता है, मानो सुखद स्मृतियों का अजस्र भाण्डार बाँध तोड़कर निकल पड़ता है। धन्य हो हिरण्यगर्भ, तुम्हारी महिमा अपरम्पार है। मेरा चित्त विक्षुब्ध समुद्र की भाँति आज उत्तरंग है। प्रिया के गौर उरुदेश (जघा) के स्पन्दन की बात सोचता हूँ, तो चित्त में हजार स्मृतियाँ उद्वेल हो उठती हैं। इन भाग्यहीन मेरी अँगुलियों ने न जाने अपने तीखे नाखून के अग्र से कितनी बार उन कोमल उरुयुगल पर अत्याचार किया है। हाय, आज उन पर मोतियों की लरवाली मनोहर

करधनी भी न होगी। वे श्रान्त-शिथिल होने पर मेरी सेवा पाने के—संवाहन के—उचित अधिकारी थे, आज वे भी निराभरण हो गये होंगे और अत्याचार और सेवा दोनों से वंचित होकर कैसे-कुछ हो गये होंगे। मेरा चित्त उन्मथित है, मैं विवेक खो बैठा हूँ, हाय, मुलायम गोल कदली-स्तम्भ की भाँति वे मनोहर उरुयुगल! मगर छोड़ो इन बातों को। मेरे प्रमाद का बुरा न मानना। उनमें जो बायाँ है वही स्पन्दित होगा। स्त्रियों का ऐसा ही होता है। उनके सौभाग्य की सूचना बायें अंग स्पन्दित होकर देते हैं। कहते हैं कि जब प्रथम बार निस्पन्द परावाक्ति में स्फोट हुआ था, तो जो वामावर्त घूमा था, वह वामावर्त अंकुश रूप में उन्मिषित हुआ। त्रिपुरसुन्दरी का वह अंकुश आयुधवाला रूप ही क्रमशः स्फोट-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ संसार की सबसे सुकुमार, सबसे महनीय, सबसे कोमल वस्तु नारी रूप में अभिव्यक्त हुआ है। पिण्ड-व्यक्ति में वह वामा नाड़ी से चलकर सहस्रार में विराजमान शिव को दक्षिणावर्त-वेष्टित करने का प्रयास करती है। शायद यही कारण है कि यह जो वाम अंग है, जो महा-माया के स्वायत्त पक्षपात से धन्य हुआ है, वही नारी के माङ्गल्य को व्यक्त करता है। मैं सरस कदली-स्तम्भ के समान उस गौरवर्ण वाली बायीं जाँघ में स्पन्दन की बात सोच रहा हूँ। जल्दी जाओ मित्र, जल्दी जाकर आद्या-शक्ति के प्रथम उन्मेष की शाश्वत लीला को प्रकट करने का निमित्त बनो।

> वामश्चास्याः कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
> र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या।
> सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनाना
> यास्यत्यूरुः सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम् ॥ 33 ॥

"देर मैं ही कर रहा हूँ। तुम ठीक कह रहे हो, देर का कारण मैं ही हूँ। परन्तु एक बार सोच देखो, कितना नाजुक काम तुम्हें सौंप रहा हूँ। वह फूल से भी अधिक मुलायम है, किसलय से भी अधिक अदनार है और नवनीत से अधिक कोमल है। ज़रा सावधानी से काम नहीं लोगे, तो अनर्थ हो जाने की आशंका है। मैं जानता हूँ कि तुम नहीं जानते, इसलिए तुम्हें बता देना मैं आवश्यक समझता हूँ। तुम चतुर हो, मुझे कोई सन्देह नहीं,

पर मन नहीं मानता। यह मेरे दुर्बल चित्त की पाप-आशंका है, पर तुम इसका बुरा न मानना। यह केवल चैतिक दैन्य का निदर्शन भी समझ सकते हो। पर जब तक मैं तुम्हें ठीक-ठीक समझा न दूँ, तब तक मुझे चैन न मिलेगा। थोड़ा धैर्य रखो, मैं संक्षेप में एक-दो बात कहकर अपना छोटा-सा सन्देश बता दूँगा। फिर तुम तेजी से उड़ जाना।

"बात इतनी-सी ही है मित्र, कि ज़रा सावधानी से काम करना। अपने इस दुखिया मित्र की दशा देखकर हड़बड़ी न कर बैठना। हो सकता है, जिस समय तुम वहाँ पहुँचो उस समय वह सो रही हो। शरीरधर्म ही तो है, नहीं तो उस विरह-विधुरा कोमलांगी को नींद कहाँ! मुझे भी क्या नींद आती है? लेकिन मैं नींद की बाट जोहता रहता हूँ। ज़रा-सी झपकी आयी नहीं कि प्रिया का निसर्ग-सुन्दर रूप स्वप्न में साकार हो उठता है। उसकी भी यही दशा होगी। हँसो मत, परिहास की बात नहीं है। उसे यदि ज़रा-सी नींद आ गयी होगी तो निश्चय ही मुझे—प्रियतम को—स्वप्न में पा गयी होगी। निश्चय ही स्वप्न में उसकी भुजलता स्वप्न-लब्ध प्रिय के गाढ़ आलिंगन में बँधी होगी। मित्र, उसे इस सुख से वंचित न होने देना। गरजना मत, कड़कना मत, पहर-भर चुपचाप रुके रहना। जानता हूँ, पहर-भर एक ही जगह चुपचाप पड़े रहने में तुम्हें बड़ा कष्ट होगा, पर किसी प्रकार सह लेना। यह बहुत ज़रूरी है। इतना कष्ट तुम सह ही रहे हो, तो थोड़ा और सही। मेरी यह चिरौरी याद रखना! चुपचाप निःशब्द रुके रहना; ऐसा न हो कि उसका यह सुख स्वप्न टूट जाय, भुजलता की आलिंगनजन्य गाँठ छूट जाय।

> तस्मिन्काले जलद यदि सा लब्धनिद्रासुखा स्या-
> दन्वास्यैनां स्तनितविमुखो याममात्रं सहस्व।
> माभूदस्याः प्रणयिनि मयि स्वप्नलब्धे कथंचि-
> त्सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रन्थि गाढोपगूढम् ॥ 34॥

"देखो मित्र, वह बड़ी मनस्विनी है। एकाएक कोई परपुरुष उसकी ओर ताके, तो वह नाराज़ हो जाती है। इसलिए भी तुम्हें बहुत चतुराई से काम लेना होगा। मैं जैसा बताता हूँ वैसा करना। पहले तो अपनी जल-कणिका से शीतल बने हुए वायु के द्वारा उसे धीरे-धीरे जगाना। शास्त्र में

कहा है कि जो प्रभु हो, मानी हो, मनस्वी हो, वह अगर सोया है तो हडबडाकर उसे नही उठाना चाहिए। बहुत धीरे-धीरे मृदुमर्दन से पैर चाँपना चाहिए, या वक्षस्थल पर मृदु-मन्द भाव से पंखा झलना चाहिए, या फिर हल्का-सा मधुर संगीत सुनाकर उठाना चाहिए। महारानियो की दासियाँ ऐसा ही करती हैं। शास्त्र का यह विधान मनस्विनी पतिव्रता स्त्रियो के लिए भी उसी प्रकार पालनीय है। मैं तुमसे ऐसा तो कैसे कहूँ कि तुम मृदु स्पर्श से उसके चरणों को धीरे-धीरे दबाना; विरह मे मैं कितना भी विवेक खो बैठा हूँ तो भी मैं तुम्हारी और अपनी, दोनों की, मर्य्यादा का जानकार हूँ। परन्तु शीतल-व्यजन तुम्हारे जल-सीकरो से सिक्त वायु द्वारा आसानी से हो सकता है। इस मन्द और शीतल वायु मे मालती-लता के पुष्पजाल की सुगन्धि तो अपने-आप मिल ही जायेगी। वह मालती-लता भी तो तुम्हारी प्रतीक्षा मे मुरझायी पडी होगी—मूछित, निद्रित, सुप्त ! तुम एक ही साथ दोनो को जगाना। वह वस्तुतः तुम्हारी सखी मालती-लता के पुष्प के समान ही सुकुमार है। तुम्हे एक साथ दो सुकुमार वस्तुओं को आश्वस्त करने का सुख मिलेगा। जब वह उठ जाय, उस समय अपनी बिजली को भीतर छिपा लेना। यदि इसकी चमक उसकी अलसायी आँखो पर पडेगी तो डर जा सकती है। खिडकी पर तुम्हे बैठा देखकर वह घबरा सकती है, उसकी आँखे मुँद जायेंगी। तुम्हे धीरे-धीरे अपने मृदु गर्जन के शब्दो मे उस मानिनी से बात करना होगा। इन बातो का याद रखना बहुत आवश्यक है। यदि तुमने धीर-भाव मे यह काम नही किया, तो यह सारा कष्ट व्यर्थ हो जायेगा। एकदम अपरिचित को खिडकी पर बैठा देखकर न जाने उसकी कैसी हालत हो, न जाने उसके कोमल चित्त मे कौन-सी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो, न जाने कौन-सी पाषाराका उसके चित्त को मथित कर दे। इसलिए मित्र, तुम्हे बडी सावधानी से काम लेना होगा। अवसर पर तुम्हारी सारी चतुरता की परीक्षा होगी।

> तामुत्थाप्य स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
> प्रत्याश्वस्ता सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
> विद्युद्गर्भ स्तिमितनयना त्वत्सनाथे गवाक्षे
> वक्तु धीर. स्तनितवचनैर्मानिनी प्रक्रमेथाः॥ 35॥

उत्सुक हो। तुम केवल सन्देशवाहक ही नही हो, विरही जनो के मिलन मे सहायक भी हो। इसमे संकोच की कोई बात नही, आत्मश्लाघा की भी कोई बात नही है। जहाँ दुखी जनो के दुःख दूर करने का प्रश्न है, वहाँ आत्मश्लाघायुक्त आत्म-परिचय उचित ही नही, आवश्यक भी है। अपरिचित वैद्य यदि रोगी को अपना परिचय न दे, तो उसके मन मे विश्वास कैसे उत्पन्न कर सकेगा? ऐसे अवसरो पर आत्मश्लाघा लोकहितैषणा की सहायक होती है। उसमे कोई दोष नही है। इसीलिए कहता हूँ मित्र, कि तुम संकोच छोड़कर अपने बारे मे इतना और कह देना, कि 'मैं वह हूँ जो प्रवास मे गये, थके हुए, चलने मे उत्साह खो बैठे हुए उन बटोहियो मे — जो अपने घरो मे विसूरती हुई प्रियाओ की लट बनी हुई वेणियो को खोलने के लिए *उत्सुक बने होते है—नवीन उत्साह का* संचार करता है। मेरी मन्द-स्निग्ध ध्वनि सुनकर उनकी नसो मे स्फूर्ति आती है, मन मे उमंग भर जाता है, पैरो मे तेज चलने की शक्ति आ जाती है। जो विरह के मारे हुए हैं, और मिलन के लिए व्याकुल हैं, किन्तु जो राह चलते-चलते थककर चूर हो गये है, उनमे नयी आशा, नयी उमंग, नयी स्फूर्ति भर देना मेरे मन्द

यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ॥ 36 ॥

"जब तुम ऐसा कहोगे तो निश्चय ही जिस प्रकार हनुमानजी की ओर सीताजी ने बड़े चाव से आँखें उठायी थी, उसी प्रकार वह भी उच्छ्वसित हृदय होकर आदरपूर्वक तुम्हारी ओर देखेगी। सौम्य, तुम नहीं जानते कि तुम एक ही साथ कितनी आशाओं और आकांक्षाओं को उस विरहिणी के चित्त में उत्पन्न कर दोगे। यह तो तुम जानते ही हो, कि स्त्रियों के लिए अपने प्रिय का कुशल-संवाद और प्रेम-सन्देश, मिलन से थोड़ा ही कम होता है। केवल उसमें स्थूल मृण्मय संयोग की कमी आ जाती है, नहीं तो अन्तःकरण का चिन्मय मिलन ज्यों-का-त्यों प्राप्त होता है। इस चिन्मय मिलन का माहात्म्य मैं जानता हूँ। केवल स्थूल दृष्टिवाले बचकाने विचार के भोंड़े रसिक ही चिन्मय मिलन का रहस्य नहीं समझ पाते। वही महामाया के वास्तविक चिन्मय रूप की अभिव्यक्ति है, स्थूल मिलन तो उसी को पाकर धन्य होता है। जहाँ अन्तस्तल में चिन्मय औत्सुक्य का अभाव है, जहाँ भीतर की प्रत्येक चेष्टा अन्तर्निहित चैतन्य से चालित और आन्दोलित नहीं है, वहाँ स्थूल मिलन का कोई महत्त्व नहीं है। तुम्हारी शब्दध्वनि से अन्तःस्थित चिन्मय देवता व्याकुल हो जाते हैं और वही व्याकुलता सच्चे प्रेम का मूल मन्त्र है। इसलिए कहता हूँ मित्र, कि प्रिय का संवाद और प्रेम का सन्देश स्थूल मिलन से थोड़े ही कम है। स्थूल मिलन उसकी अन्तिम परिणति है, चिन्मय मिलन ही उसका मूल-रूप है। वही महामाया की चेतन-प्रक्रिया है और वही हिरण्यगर्भ की वास्तविक लीला है।

इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कण्ठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य सम्भाव्य चैवम्।
श्रोष्यत्यस्मात्परमवहिता सौम्य सीमन्तिनीनां
कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः ॥ 37 ॥

"हे आयुष्मन्, मेरे कहने से, और परोपकार करने की भावना से अपने को कृतार्थ करने के उद्देश्य से तुम उससे इस प्रकार कहना कि 'हे अबले, तुम्हारा बिछुड़ा हुआ साथी रामगिरि के आश्रम में सकुशल है और

तुम्हारी कुशल जानना चाहता है।' इतना शुरू में ही कह देना बहुत आवश्यक है। देखो मित्र, विपत्ति मनुष्य के लिए बड़ी सुलभ वस्तु है, वह अचानक आ सकती है और अकारण भी आ सकती है। दूर बैठा हुआ प्रिय-जन निरन्तर सोचता रहता है कि हमारे प्रिय पर कोई विपत्ति तो नहीं आयी; वह कुशल से तो है, कहीं किसी प्रकार के विघ्न का तो शिकार नहीं हो गया, किसी कठिनाई में पड़कर दुःख तो नहीं पा रहा है। विरही प्राणी के चित्त मे पाप-आशंकाएँ निरन्तर उठा करती हैं। इसलिए और कुछ करने के पहले उसे यह बता देना आवश्यक है कि उसका प्रिय सकुशल है, उस पर कोई विपत्ति नहीं आयी। फिर जो लोग अत्यन्त कोमल-चित्त के हैं उनके मन को आश्वस्त करने के लिए कुशल-सवाद पहले कह देना ही उचित है। यदि सन्देशवाहक कुशल-वृत्तान्त कहने मे थोड़ा भी विलम्ब करे, तो न जाने उसके मन मे कौन-सी आशका आ उपस्थित हो। वह मूर्च्छित हो सकती है, विपन्न हो सकती है, इसलिए कुशलवाली बात पहले कहना आवश्यक है।

> तामायुष्मन्मम च वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
> ब्रूयादेवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थ ।
> अव्यापन्न: कुशलमबले पृच्छति त्वा वियुक्त:
> पूर्वाभाष्य सुलभविपदा प्राणिनामेतदेव ।। 38 ।।

"अब मेरा सन्देश सुनाना। मेरा कुशल-सवाद सुनकर वह आश्वस्त हो गयी रहेगी। सँदेशा क्या है मित्र, मैं विरह मे व्याकुल हूँ, इसमें तो केवल दुःख-ही-दुःख का रोना है। मेरे कष्टों की गाथा सुनाकर तुम उस कोमल चित्त को और भी अधिक दुःखी बनाओगे। लेकिन यह भी भुवन-मोहिनी की लीला का एक अद्भुत रहस्य है कि यद्यपि विरही जन अपने प्रिय के कुशल-सवाद के लिए अत्यन्त चिन्तित होते है, तथापि उन्हे यह जानकर प्रसन्नता होती है कि उनका प्रिय भी उन्ही के समान व्याकुल है, चित्त-वैक्लव्य का आखेट बना हुआ है। उसे यदि यह मालूम हो जाये, कि उसका प्रेमी राग-रंग मे मस्त है तो उसकी पीड़ा बढ जाती है; और उसे मालूम हो जाये, कि उसका प्रेमी वियोग मे व्याकुल है, कातर है, तो उसे सुख मिलता है। इससे क्या यह नहीं सिद्ध होता, कि प्रत्येक व्यक्ति अपने

कि के स्वच्छाकार चित्त को देखकर सुखी होता है? व्यक्ति-चित्त के इन दुर्गम रस को कौन कहा जाने? सुन्दमोहिनी के प्रदेश इंगित में न जाने कितने रहस्य भरे हुए हैं; बुद्धि-व्यापार उसे समझने में एकदम असमर्थ है। इसलिए मुझे मेरी व्याकुलता का सन्देश कहने में हिचकना नहीं चाहिए। कहता, कि, हे सौभाग्यवती, तुम्हारे दूर बैठे हुए वियोगी प्रिय का मार्ग वैरी विधाता ने रोक रखा है, इसलिए वह तुमसे मिल भर ही न सके, परन्तु अपने दुर्बल अंगों को देखकर तुम्हारे दुर्बल अंग की बात समझ सकता है, अपनी गाढ़ताप जलन से तुम्हारी तपन का अनुमान कर सकता है; अपनी निरन्तर बहती हुई अश्रुधारा से तुम्हारे नयनों से झरती रहने-वाली निरन्तर अश्रुधारा को समझ सकता है, अपने उत्कण्ठित चित्त से तुम्हारी अहर्निश जगी हुई उत्कण्ठा का अन्दाजा लगा सकता है; अपने निरन्तर उठते हुए उष्ण उच्छ्वासों से तुम्हारे उच्छ्वासों की बात समझ सकता है। परन्तु हाय, वह बहुत दूर है इसलिए तुम्हारे सामीप्य का सुख नहीं प्राप्त कर सकता। परन्तु नित्य नवीन-नवीन संकल्पों से वह तुम्हारे अन्तःकरण में नित्य प्रवेश करता रहता है। उसका विश्वास है कि तुम सबको का अनुभव कर रही होगी। वैरी विधाता केवल स्थूल मार्गों को रोक सकता है, सूक्ष्म मानस-संकल्पों को वह कैसे रोक सकेगा? प्रिये, तुम अपने चित्त की गति से मेरे चित्त की गति को आसानी से समझ सकती हो। मेरे अन्तःकरण के संकल्प निःसन्देह तुम्हारे अन्तःकरण में स्पन्दित होते होंगे।

> अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
> सास्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
> उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
> सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥ 39 ॥

"मैं अपनी अवस्था तुमसे क्या निवेदन करूँ! एक वह जमाना था, जब तुम्हारे प्रिय को तुमसे कोई ऐसी भी बात कहनी होती थी, जो तुम्हारी सखियों के सामने ज़ोर-ज़ोर से कहने में कोई संकोच नहीं होता, जो सहज भाव से सहज ही कही जा सकने योग्य होती, तो उसे भी तुम्हारा प्रिय तुम्हारे कान में कहता था! क्यों कहता था? तुम्हारे सुन्दर मुख के

स्पर्श करने के लोभ से। स्पर्श करने का कोई बहाना ढूँढ निकालना ही उसका उद्देश्य होता था। अब तुम अपने उस प्रिय की न तो बात सुन सकती हो, न उसे आँख भरकर देख ही सकती हो। तुम्हारा वही प्रिय मेरे मुँह से उत्कण्ठा में विरचित इन शब्दों को तुम्हारे पास कहता है।

शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णे लोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट—
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह॥ 40॥

"प्रिये, मैं श्यामा लताओं में तुम्हारा शरीर, भीत-चकित हरिणी की आँखों में तुम्हारी मोहिनी चितवन, पूर्ण चन्द्र-मण्डल में तुम्हारे मुख की सुन्दर छाया, मयूरों के बर्ह-भार में तुम्हारे केशों का अनुपम सौन्दर्य, और नदी की छोटी तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास की लीला देखा करता हूँ। परन्तु हाय प्रिये, एक स्थान पर तुम्हारा सादृश्य कहीं भी नहीं मिलता। प्रिये, चण्डि, तुम कोपनस्वभावा हो; एक ही स्थान पर तुम्हारा सम्पूर्ण सौन्दर्य पाना सम्भव नहीं। हाय प्रिये!"

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति॥ 41॥

चण्डी—कोपन-स्वभावा! यक्ष की आँखों से अश्रुधारा अविरल गति से बहने लगी। यह मेघ क्या इस बात को समझ पायेगा! किसी दिन नारद मुनि ने पितृगृह गयी हुई पार्वती को शिव से लड़ा देने का संकल्प किया। बोले, 'तुम तो यहाँ बैठी हो, वहाँ शिव ने विचित्र लीला शुरू की है! एक बड़ी ही सुन्दर स्त्री को हृदय में धारण किया है। तुम्हें यहाँ भेज दिया है और वहाँ नित्य रासलीला रचा रखी है।' पार्वती को क्रोध हुआ, ईर्ष्या हुई और वे रहस्य का पता लगाने चलीं। सहज-कोपनता ने उन्हें और भी रमणीय बना दिया। फिर उन्होंने भुवनमोहिनी का रूप धारण किया। भक्त लोग उसी त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप को 'त्रिपुर-सुन्दरी' कहा करते हैं। वे जब भगवान् शंकर के पास पहुँचीं तो क्या देखा? भगवान् कर्पूर-

गौर कान्ति से दमक रहे हैं। सिंहासन पर अपूर्व भाव-मग्न समाधि में आसीन हैं। त्रिपुर-सुन्दरी की छाया उनके कपाट के समान गौर वक्ष-स्थल में प्रतिबिम्बित हुई। त्रिपुर-सुन्दरी की भृकुटियाँ तन गयीं। उन्होंने समझा, यही वह स्त्री है जिसे शिव ने हृदय में छिपा रखा है। उनके मुख पर ईर्ष्या, क्रोध और असूया के कारण जो तमतमाहट हुई वह तपाये हुए कुन्दन की भाँति गाढ़ लाल वर्ण की शोभा में बदल गयी। छाया में भी यह प्रतिबिम्बित हुई, लेकिन रंग और भी श्यामल हो गया था। छाया ही तो थी। भवानी का यह रूप और भी चमत्कार होकर उनकी छाया में प्रतिबिम्बित हुआ। उनके कोप व्याकुल रूप को देखकर समाधि से उठे हुए शिव ने शान्त स्वर में पूछा—'क्या बात है देवि!' देवी के मुख पर रोष का भाव और भी गाढ़ हो आया। उन्होंने कड़क के पूछा—'तुम्हारे हृदय में यह कौन स्त्री है?' शिव ने हँसकर उत्तर दिया—'तुम्हारी छाया!' देवी गल गयी। उन्हें नारद का परिहास समझ में आ गया! भक्तों में वह छाया 'त्रिपुरभैरवी' के नाम से पूजित होती है। उसने भगवती के कोपन स्वभाव को उद्दीप्त किया था, बुद्धि को मोहग्रस्त बनाया था; तब से महाशक्ति की यह सहज-कोपना लीला नारीसौन्दर्य को खिलाती आयी है, प्रेम की जीर्णता को झाड़ती आयी है, अनुराग के हृदय में विक्षोभ की लहरें उकसाती आयी है। हाय, मेघ क्या यह सब समझ सकेगा! कोमल भाव से उसने फिर अपना संदेसा कहा—

"हे सुन्दरि! तुम्हारे प्रणय-कुपित रूप को पर्वतशिलाओं पर गेरू के रंग से चित्रित करता हूँ और तुम्हें मनाने के लिए जब अपने-आपको तुम्हारे चरणों पर डाल देने का प्रयास करता हूँ, तो उस समय बार-बार उमड़ते हुए आँसू मेरी दृष्टि-शक्ति को लोप कर देते हैं। हाय, क्रूर कृतान्त चित्र में भी हमारा-तुम्हारा मिलन नहीं सह सकता।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-<br>
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।<br>
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे<br>
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ 42 ॥

स्पर्श करने के लोभ से। स्पर्श करने का कोई बहाना ढूंढ निकालना ही उसका उद्देश्य होता था। अब तुम अपने उस प्रिय की न तो बात सुन सकती हो, न उसे आँख भरकर देख ही सकती हो। तुम्हारा वही प्रिय मेरे मुंह से उत्कण्ठा मे विरचित इन शब्दो को तुम्हारे पास कहता है।

> शब्दाख्येय यदपि किल ते य: सखीना पुरस्ता-
> त्कर्णे लोल: कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात् ।
> सोऽतिक्रान्त: श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृष्ट—
> स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपद मन्मुखेनेदमाह ॥ 40 ॥

"प्रिये, मैं श्यामा लताओ मे तुम्हारा शरीर, भीत-चकित हरिणी की आँखों में तुम्हारी मोहिनी चितवन, पूर्ण चन्द्र-मण्डल मे तुम्हारे मुख की सुन्दर छाया, मयूरों के बर्हं-भार मे तुम्हारे केशो का अनुपम सौन्दर्य, और नदी की हल्की तरगो मे तुम्हारे भ्रू-विलास की लीला देखा करता हूँ। परन्तु हाय प्रिये, एक स्थान पर तुम्हारा सादृश्य कही भी नही मिलता। प्रिये, चण्डि, तुम कोपनस्वभावा हो; एक ही स्थान पर तुम्हारा सम्पूर्ण सौन्दर्य पाना सम्भव नही। हाय प्रिये!"

> श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
> वक्त्रच्छाया शशिनि शिखिना बर्हभारेषु केशान् ।
> उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
> हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥ 41 ॥

चण्डी—कोपन-स्वभावा! यक्ष की आँखो से अश्रुधारा अविरल गति से बहने लगी। यह मेघ क्या इस बात को समझ पायेगा! किसी दिन नारद मुनि ने पितृगृह गयी हुई पार्वती को शिव से लडा देने का सकल्प किया। बोले, 'तुम तो यहाँ बैठी हो, वहाँ शिव ने विचित्र लीला शुरू की है! एक बडी ही सुन्दर स्त्री को हृदय मे धारण किया है। तुम्हे यहाँ भेज दिया है और वहाँ नित्य रासलीला रचा रखी है।' पार्वती को क्रोध हुआ, ईर्ष्या हुई और वे रहस्य का पता लगाने चली। सहज-कोपनता ने उन्हें और भी रमणीय बना दिया। फिर उन्होंने भुवनमोहिनी का रूप धारण किया। भक्त लोग उसी त्रैलोक्य-मनोज्ञ रूप को 'त्रिपुर-सुन्दरी' कहा करते हैं। वे जब भगवान् शंकर के पास पहुँची तो क्या देखा? भगवान् कर्पूर-

गौर कान्ति से दमक रहे हैं। सिद्धासन बाँधकर अपूर्व भाव-मग्न समाधि में आसीन हैं। त्रिपुर-सुन्दरी की छाया उनके कपाट के समान गौर वक्ष-स्थल में प्रतिफलित हुई। त्रिपुर-सुन्दरी की भृकुटियाँ तन गयीं। उन्होंने समझा, यही वह स्त्री है जिसे शिव ने हृदय में छिपा रखा है। उनके मुख पर ईर्ष्या, कोप और असूया के कारण जो तमतमाहट हुई वह तपाये हुए कुन्दन की भाँति गाढ़ ताम्र वर्ण की शोभा में बदल गयी। छाया में भी यह प्रतिक्रिया दिखी, लेकिन रंग और भी श्यामल हो गया था। छाया ही तो थी! भवानी का चण्ड रूप और भी चण्डतर होकर उनकी छाया में अति-रंजित हुआ। उनके कोप व्याकुल रूप को देखकर समाधि से उठे हुए शिव ने शान्त स्वर में पूछा—'क्या बात है देवि!' देवी के मुख पर कोप का भाव और भी गाढ़ हो आया। उन्होंने कड़क के पूछा—'तुम्हारे हृदय में यह कौन स्त्री है?' शिव ने हँसकर उत्तर दिया—'तुम्हारी छाया!' देवी सन्न गयीं। उन्हें नारद का परिहास समझ में आ गया! भक्तों में वह छाया 'त्रिपुरभैरवी' के नाम से पूजित होती है। उसने भगवती के कोपन स्वभाव को उद्दीप्त किया था, बुद्धि को मोहग्रस्त बनाया था : तब से महा-शक्ति की यह सहज-कोपना लीला नारीसौन्दर्य को खिलाती आयी है, प्रेम की जीर्णता को झाड़ती आयी है, अनुराग के हृदय में विक्षोभ की तरंगें उकसाती आयी है। हाय, मेघ क्या यह सब समझ सकेगा! कोमल भाव से उसने फिर अपना सँदेसा कहा—

"हे सुन्दरि! तुम्हारे प्रणय-कुपित रूप को पर्वतशिलाओं पर गेरू के रंग से चित्रित करता हूँ और तुम्हें मनाने के लिए जब अपने-आपको तुम्हारे चरणों पर डाल देने का प्रयास करता हूँ, तो उस समय बार-बार उमड़ते हुए आँसू मेरी दृष्टि-शक्ति को लोप कर देते हैं। हाय, क्रूर कृतान्त चित्र में भी हमारा-तुम्हारा मिलन नहीं सह सकता।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-<br>
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।<br>
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे<br>
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥ 42 ॥

"प्रिये, जब कभी मैं स्वप्न में तुम्हें देखता हूँ और निर्दय भाव से आलिंगन करने के लिए अपने हाथ ऊपर फैलाता हूँ, उस समय वन-देवियाँ भी मेरी दशा पर तरस खाकर मोती के समान बड़े-बड़े अश्रु-बिन्दु वृक्षों के किसलयों पर टपका देती हैं। मेरी इस दयनीय दशा से उनका भी चित्त दुःखित हो उठता है, उनकी भी आँखों से अश्रु टपक पड़ते हैं और वे भी हमारे प्यार से आकुल हो उठती हैं।

मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसंदर्शनेषु ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥ 43 ॥

"हे गुणवती, हिमालय की ओर से जो हवा दक्षिण की ओर चलती है; जो देवदारु द्रुमों के किसलय-पुट को भेद करने के कारण उनके क्षरित दूध से सुगन्धित बनी होती है और हिमालय की तुषार-राशि के स्पर्श से शीतल बनी रहती है, उसे भी मैं हृदय से लगाता हूँ। इस आशा से कि इसने तुम्हारे अंगों का स्पर्श किया होगा और मैं भी कदाचित् उसका स्पर्श पाकर धन्य हो सकूँगा।

भित्त्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति ॥ 44 ॥

"हे चपलनेत्रे, मैं मन-ही-मन यह मनाया करता हूँ कि रात्रि के लम्बे-लम्बे तीन प्रहर किसी तरह क्षण-भर के समान हो जायें, और दिन की तपिश हमेशा के लिए मन्द हो जाय, परन्तु मेरी यह दुर्लभ इच्छा कभी पूरी नहीं होती; और उस पर तुम्हारी वियोग-व्यथा के द्वारा पैदा हुई विरह की यह कड़ी आँच मुझे कहीं का नहीं रहने दे रही है। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि कहाँ जाऊँ। किसकी शरण लूँ, कौन मुझे इससे बचायेगा! हाय प्रिये, मुझे इस जलन ने अशरण बना दिया है। ऐसा जान पड़ता है जैसे मैं अनाथ हो गया हूँ, न कोई सहारा देनेवाला है न ढाढ़स ही।"

संक्षिप्येत क्षण इव कथं दीर्घयामा त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात् ।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः कृतमशरणं त्वद्वियोगव्यथाभिः ॥ 45 ।

इतना कहने के बाद यक्ष ने दीर्घ निःश्वास लिया कि यह मैं क्या कह रहा हूँ ! ये सारी बातें क्या प्रिया के कोमल चित्त को और भी नहीं झुलसा देंगी ? मेरे इस दैन्य की कहानी सुनकर वह क्या और भी व्याकुल नहीं हो उठेगी ? यह भी कोई बात हुई ! अपने इस दुःख की गाथा सुनाकर मैं क्या कुछ ऐसा नहीं कर रहा हूँ जो पहले ही व्याकुल चित्त को और भी उन्मथित कर दे, और भी विशेष-कातर बना दे, और भी हाहाकार का आकार बना डाले ? "ठहरो मित्र, यह मैं अनुचित कर रहा हूँ। मेरी दीन असहायावस्था को सुनकर वह विक्षिप्त हो जायगी। तुम उससे ऐसा कहना कि हे कल्याणि, तुम्हारे निरन्तर चिन्तन से मेरी कोई हानि नहीं हो सकती, क्योंकि तुम कल्याणमयी हो। तुम्हें सदा अपने चित्त में प्राप्त करते रहना परम कल्याण का हेतु है। मैं सोच-विचारकर अपने हृदय को ढाढ़स भी बँधा लेता हूँ, इसीलिए तुम मेरे बारे में अधिक चिन्ता न करना। तुम्हारी-जैसी संजीवनी बूटी मेरे चित्त में निरन्तर कल्याण को उद्बोधित करती रहती है। हे मंगलमयि, मैं तुम्हारी बातों के स्मरण से ढाढ़स पाता हूँ, तुम्हारा चिन्तन ही मेरा शरण-दाता है। तुम मेरे लिए अधिक दुःखी न होओ। जिस चित्त में तुम्हारा निवास है वह अपना सहारा आप ही है, इसमें कातर होने की कोई बात नहीं। व्याकुल मत होना प्रिये, दुनिया में ऐसा कौन है जिसे सदा सुख ही मिलता है और फिर ऐसा भी कौन है जिसे एकान्त दुःख ही मिलता रहता हो ! गाड़ी के पहिये के चक्के के समान मनुष्य की दशा कभी ऊपर उठती है, कभी नीचे गिरती है।

नन्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां मा गमः कातरत्वम् ।
कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥ 46 ॥

"प्रिये, शीघ्र ही भगवान् विष्णु नाग-शय्या से उत्थित होंगे। कार्तिक

शुक्लपक्ष की एकादशी अब बहुत दूर नहीं है। उसी दिन भगवान् विष्णु शयन देवताओं के मास निद्रा-ओं से मुक्त होते हैं, इसीलिए मंगल मुहूर्त के रूप में 'देवोत्थानी एकादशी' के नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन मेरे शाप का अवसान हो जाएगा। शेष चार महीने किसी प्रकार आँख मूँदकर बिता देना है। फिर तो हम दोनों वियोग-काल में सोची हुई सारी अभिलाषाओं को पूरा करेंगे। उस समय कार्तिक की शुक्लपक्ष की रात्रियाँ ज्योत्स्नामयी होंगी। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना किरणों से भास्वर बनकर प्रकट हुई रहेगी, और हमारे चित्त का अभिलाष-जगत उनके साथ अपना पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर लेगी। आठ मास बीते। ये भी चार मास और बीत ही जाएँगे।"

यक्ष ने मेघ के परिपूर्ण मुखमण्डल की ओर देखा। समझ गया कि मेघ क्या सोच रहा है। अभी तो आषाढ़ का प्रथम दिवस है। कार्तिक के शुक्ल-पक्ष की एकादशी के आने में निश्चित रूप से चार से अधिक महीने लगेंगे। "तुम ठीक कह रहे हो मित्र, परन्तु जब तक तुम अलकापुरी पहुँचोगे, तब तक आषाढ़ शुक्लपक्ष की एकादशी अवश्य आ गयी रहेगी। उस दिन मेरे शाप के केवल चार ही महीने बाकी रहेंगे। जो विरहिणी एक-एक क्षण और एक-एक मुहूर्त गिनकर दिन काट रही है, उसे यथासमय विरह-काल की सीमा को कम करके बताना ही उचित है। तुम आज से हिसाब मत करो। जिस दिन पहुँचोगे, उस दिन से हिसाब करना ठीक होगा। चार मास, सिर्फ चार मास!"

> शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
> शेषान्मासान्गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
> पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
> निर्वेक्ष्याव: परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥ 47॥

संदेश तो यह दिया गया। परन्तु इतनी बात तो कोई छलिया भी जाकर कह सकता है। कवि लोग कल्पना करके तो नित्य ही विरहियों की दशा का चित्रण किया करते हैं। यक्ष ने सोचा कि, बुद्धिमती यक्षपत्नी मेघ को कहीं वंचक न समझ ले। क्या सबूत है कि सचमुच ही यह उसके पति के पास से ही आ रहा है। घर में अनायास घुस जानेवाले वंचकों को तो

दान बनाने की कला खूब आती है। नहीं, मेघ को कोई चिह्न देना होगा, कोई सहिदानी देनी होगी। कुछ ऐसा अभिज्ञान देना होगा जो निश्चित रूप से सिद्ध कर सके कि यह मेघ उसके पति के यहाँ से आ रहा है। कोई ऐसी बात, जिसे दो ही व्यक्ति जानते हैं यक्ष और उसकी प्रिया। यक्ष ने मेघ से कहा—"मित्र, तुम इतना और कह देना। कहना कि हे अबले, तुम्हारे प्रिय ने यह भी कहलाया है कि एक बार जब तुम मेरे गले से लगी हुई शय्या पर सो रही थी, उस समय तुम अचानक जोर से चिल्ला पड़ी और सिसकी भरकर रोती हुई जाग पड़ी। जब मैंने बार-बार रोने का कारण पूछा तब तुमने आनन्द की हँसी को अपने भीतर ही रोक लिया, मैंने केवल तुम्हारे अधरों पर लगी हुई हल्की स्मित-रेखा से ही अनुमान लगाया। उस दबी हुई ईषद् विकसित मन्द मुस्कान के साथ तुमने कहा कि, 'छलिया, मैंने स्वप्न में देखा कि तुम किसी दूसरी स्त्री के साथ रमण कर रहे हो, इसीलिए एकाएक रो पड़ी।'

भूयश्चाह त्वमपि शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सस्वनं विप्रबुद्धा।
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन्कामपि त्वं मयेति ॥ 48 ॥

"हे चकितनयने, इस सहिदानी से ही तुम समझ लेना कि मैं सकुशल हूँ। दूसरों के कहने से मेरे ऊपर अविश्वास मत कर बैठना। न जाने लोग क्यों कहा करते हैं कि वियोग-काल में प्रेम क्षीण हो जाता है। ऐसा कहने-वाले न तो प्रेम का सच्चा स्वरूप ही जानते हैं, न विरह के अद्भुत उन्नायक गुणों का स्वरूप ही। सच्ची बात तो यह है कि जब मनचाही वस्तु नहीं मिलती, तभी उसके पाने के लिए चित्त की व्याकुलता बढ़ जाती है। रस उपचित होने लगता है और प्रेम राशीभूत होकर समृद्ध हो उठता है। रम्य वस्तु के प्रति देखते रहने की जो असाधारण चाह है उसे ही प्रेम कहते हैं, उसकी चिन्ता को 'अभिलाषा' कहते हैं, उसी का संग पाने की बुद्धि को 'राग' कहते हैं, उसकी ओर ढरक पड़ने की क्रिया को 'स्नेह' कहते हैं, उसके वियोग को सहन न कर सकने की दुर्बलता प्रेम कहलाती है। यह सब तो बिछोह की अवस्था में ही दीप्त और भास्वर होकर प्रकट होते हैं। जो

आवश्यकता नहीं होगी। यह तो सज्जनों की रीति ही है कि जब कोई उनसे किसी बात की याचना करता है तो वे काम पूरा करके ही उत्तर देते हैं। मैं जानता हूँ कि तुमसे प्रतिवचन लेने की कोई आवश्यकता नहीं, तुम मेरा काम अवश्य करोगे। इतना मैं अवश्य कहना चाहता हूँ कि मैं अपने को अपराधी समझ रहा हूँ। तुम्हारे-जैसे महान् मित्र से इस प्रकार का दौत्य कर्म कराना अपराध नहीं तो क्या है ? मैं अपनी प्रार्थना का अनौचित्य समझ रहा हूँ। पर मैं इतनी दूर इस रामगिरि पर कोई और दिखायी भी तो नहीं देता ! चाहे मित्रता के नाते, चाहे मेरे विरहकातर चित्त पर तरस खाकर मेरा इतना-सा काम अवश्य कर देना। फिर तुम मस्तमौला हो, यदृच्छ घूमा करते हो, न ऊधो का लेना न माधो का देना ! तुम्हारे-जैसे फक्कड़ से कोई काम कराना, तुम्हें निश्चित अवधि के बन्धनों में बाँधना बड़ा ही अनुचित है, लेकिन मेरी लाचारी की ओर देखो, मेरे अशरण भाव पर दृष्टि डालो, और अपने परोपकार-व्रत का ध्यान करो। बन्धन में थोड़ा पड़ना अवश्य है। इतना-सा काम कर लेने के बाद तुम मौज में जहाँ चाहो घूमो, जिन देशों को देखना चाहो देखो, एवं मस्ती और उल्लास की जिन्दगी बिताओ। मैं प्रतिदान में तुम्हें दे ही क्या सकता हूँ ! मेरे पास केवल कातर चित्त की कृतज्ञता है, मैं केवल भगवान् से निरन्तर यही प्रार्थना कर सकता हूँ कि मुझ पर जो बीत रही है, वह तुम पर कभी न बीते। तुम्हारी इस विद्युत्प्रिया के साथ तुम्हारा कभी वियोग न हो। परमशिव तुम्हारी समृद्धि दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ाते रहें और तुम्हारी अकलग्नामिनी विद्युल्लता क्षण-भर के लिए भी तुमसे अलग न हो।

> कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
> प्रत्यादेशान्न खलु भवतो धीरतां कल्पयामि ।
> निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
> प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव ॥ 51 ॥
> एतत्कृत्वा प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो मे
> सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोशबुद्ध्या ।
> इष्टान्देशाञ्जलद विचर प्रावृषा सम्भृतश्री-
> र्मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ॥ 52 ॥